'नाम'-गानपरायण नारद

आवाहितसे तुरत आ गये वीणा सुनते ही भगवान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाममखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२१, फरवरी १९६५ { संख्या २ / पूर्ण संख्या ४५९

'नाम'-गानपरायण श्रीनारदजी

भक्त-कीर्तनाचार्य-मुकुटमणि, करते सदा नाम-गुण-गान ।
अखिल विश्वमें विचरण कर, वे वितरण करते नाम महान ॥
लगे नाचने भावमग्न हो, छेड़ी मधुर मनोहर तान ।
आवाहित-से तुरत आ गये वीणा सुनते ही भगवान ॥

याद रक्खो—भगवान् हैं; भगवान् सदा-सर्वत्र हैं, भगवान् सबके हैं; तुम्हारे भी हैं—उतने ही जितने वे किसी भी बड़े-से-बड़े संत-महात्माके हैं। भगवान्पर सदा सुदृढ़ तथा अटल विश्वास रक्खो; उनकी अहैतुकी कृपा सदा तुमपर अनवरत बरस रही है—इसपर विश्वास रक्खो।

याद रक्खो—भगवान्‌की सत्ता, भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता, भगवान्‌की सर्वज्ञता, भगवान्‌की सहज सर्वभूतसुहृदता, भगवान्‌की दीन-बन्धुता नित्य, सत्य, सनातन, अक्षुण्ण एवं अपरिसीम है। इसपर कभी तनिक भी संदेह न करो। वरं सुदृढ़ विश्वास रक्खो।

याद रक्खो—भगवान्‌के ये स्वरूपभूत गुण सदा ही तुम्हारे लिये कार्य कर रहे हैं, इसपर तुम जितना ही अधिक विश्वास रक्खोगे, उतना ही तुम्हें अनुभव होगा कि भगवान् नित्य तुम्हारे समीप—तुम्हारे साथ रहकर अपनी अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-अनन्त शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सुहृदता और दीनबन्धुतासे तुम्हारा परम कल्याण कर रहे हैं।

याद रक्खो—जब तुम्हारा भगवान्पर और उनके स्वरूपभूत गुणोंपर विश्वास हो जायगा, तब तुम्हें सांसारिक दृष्टिसे महान् दुःखमयी, कष्टमयी, संतापमयी स्थितिमें भी परम शान्ति तथा परम सुखकी अनुभूति होगी। तुम सदा यही देखोगे कि भगवान् तुम्हारा परम कल्याण करनेके लिये तुम्हारे अपने माने हुए मिथ्या तन-मनसे तुम्हारा मोह छुड़ाकर तुम्हें अपने अत्यन्त निकटस्थ रखनेकी मङ्गलमयी व्यवस्था कर रहे हैं।

याद रक्खो—भगवान्‌का प्रत्येक विधान तुम्हारे निश्चित कल्याणके लिये है; अतएव कभी निराश मत होओ, कभी भय न करो, कभी विषाद मत करो। भगवान्‌की नित्य अहैतुकी कृपापर विश्वास रक्खो, जगत्के प्राणि-पदार्थोंसे कुछ भी आशा न रखकर अपने वास्तविक कल्याणके लिये भगवान्पर पूर्ण विश्वासके साथ निश्चित आशा करो। सतत आशान्वित रहो और हर हालतमें परम सुखका अनुभव करो।

याद रक्खो—तुम वस्तुतः भगवान्‌की सेवाके लिये ही जगत्‌में भेजे गये हो। तुम्हें अपने प्रत्येक पदार्थको, प्रत्येक विचारको, प्रत्येक शक्ति-सामर्थ्यको एवं प्रत्येक क्रियाको भगवान्‌की वस्तु मानकर उन सबके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहना है। यह न करके यदि तुम अपनेको अन्य किसी कार्यके लिये आया मानते हो, या जगत्‌के प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंको अपनी मानकर अपने सुखोपभोगोंके लिये उनका उपयोग करना चाहते हो तो तुम बड़ी भूलमें हो; भूलमें ही नहीं हो—अपराध कर रहे हो, पाप बटोर रहे हो—जिनका फल तुम्हें बहुत बुरे रूपमें भोगना पड़ेगा।

याद रक्खो—तुम जो कुछ अच्छे विचार या अच्छे कर्म करते हो, वह सब भगवान्‌की सत्प्रेरणा और भगवान्‌की शक्तिसे ही करते हो। कभी किसी भी अच्छे विचार या अच्छी क्रियामें अपनेको कर्त्ता मानकर तनिक भी अभिमान न करो, वरं भगवान्‌ने तुम्हें अच्छेमें निमित्त बनाया, इसके लिये उनके कृतज्ञ होओ और विशेष उत्साहके साथ सेवामें लगे रहो।

याद रक्खो—भगवान्‌का कृपामय मङ्गलविधान भगवान्‌की सर्वज्ञताके साथ ही निर्मित हुआ है। उसका कब कैसे प्रयोग होगा और किस रूपमें कैसे उससे फलका उदय होगा—यह सब पहलेसे सुनिश्चित है। अतएव कभी ऊबो मत, घबराओ मत, अधीर मत होओ, आशामें तनिक भी कमी न आने दो और फलकी मङ्गलमयता तथा भगवद्रूपतामें तो कभी तनिक भी संदेह न करो। शीघ्र या देर—दोनों ही भगवान्‌के कल्याण-विधानके अनुसार निश्चित ही तुम्हारे परम कल्याणके लिये ही हैं। तुम तो निश्चिन्त रूपसे नित्य-निरन्तर उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए—सर्वत्र सब अवस्थाओंमें उनकी कृपाके दर्शन करते हुए उनके भजनमें—उनकी सर्वतोमुखी सेवामें ही लगे रहो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[शुभ संकल्प]

(संकलयिता—श्री'माधव')

शुभ संकल्पोंका चित्तपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इससे चित्तकी शुद्धि सुगमतासे हो जाती है। इसलिये साधकको चाहिये कि यदि संकल्प करना ही हो, संकल्प किये बिना मन न माने तो शुभ संकल्प ही करना चाहिये। अशुभ संकल्प कभी नहीं करना चाहिये। संकल्पकी शुद्धिके लिये वेदोंमें ईश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बतलाया गया है। इसके लिये 'शिव-संकल्प' नामका एक प्रकरण शुक्ल यजुर्वेदमें आता है—ऐसा सुना है।

किसीका भी चित्त पूर्णरूपसे अशुद्ध नहीं होता। उसमें अशुद्धिके साथ-साथ शुद्धिका अंश भी अवश्य रहता है। उसीके प्रभावसे मनुष्यके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है। अतः इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य बुरे संकल्पोंका त्याग करके अच्छे संकल्पोंको करनेमें स्वाधीन है। भगवान्की अहैतुकी कृपासे वह इस कार्यमें सफल हो सकता है। संकल्पके अनुसार ही मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः शुभ संकल्पोंसे मनुष्यकी शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति होती है और उन कामोंको भगवान्के नाते धैर्य और कुशलतापूर्वक पूरा करनेसे कर्ताका भगवान्से सम्बन्ध हो जाता है।

यह नियम है कि जिसपर मनुष्यका विश्वास होता है, उसीसे सम्बन्ध होता है और जिससे सम्बन्ध होता है, वही प्रिय होता है। प्रियका ही स्मरण होता है। जिसका स्मरण होता है, उसीका चिन्तन होता है और यह चिन्तन ही आगे जाकर ध्यान, समाधि बन जाता है। जब साधक समाधिके रससे भी उपरत हो जाता है, उसे भी नहीं चाहता, तब उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है।

चिन्तन करने योग्य एकमात्र प्रभु हैं; क्योंकि जो सदा हैं, सब जगह हैं और स्वयंप्रकाश हैं—वे ही चिन्तनद्वारा प्राप्त हो सकते हैं। शरीर या भोग्य पदार्थ एवं संसार चिन्तन करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो सदा सब जगह नहीं हैं, जो अनित्य और जड हैं, उनकी प्राप्ति चिन्तनसे नहीं होती। अतः उनका चिन्तन करना व्यर्थ है। भगवान्का चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। अतएव साधकको निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन करना चाहिये। प्रभुका चिन्तन करनेके लिये उनपर विश्वास करना और उनको अपना मानना आवश्यक है।

योग, बोध और प्रेम किसी क्रियाका फल नहीं है। इनका सम्बन्ध साधककी चित्तशुद्धिसे है। चित्त शुद्ध होनेपर योगीको योग, विचारशीलको बोध और प्रेमीको स्वतः प्रेम प्राप्त होता है। चित्तकी शुद्धि उन महापुरुषोंके सत्सङ्गसे होती है, जिनका भाव शुद्ध हो गया है। अतः साधकको चाहिये कि सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त करके अपने साधनका निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परतासे साधनमें लग जाय। अपने प्राणोंसे भी साधनका महत्त्व अधिक समझे। साधकको भगवान्की कृपापर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थितिके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गकी प्राप्तिके लिये सच्ची अभिलाषाके साथ चेष्टा करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे सत्सङ्गकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

अशुभ संकल्पोंके त्यागसे शुभ संकल्पोंकी पूर्ति स्वतः होने लगती है। उससे उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो साधक अपनेको शुभ संकल्पोंकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पोंकी निवृत्ति-द्वारा योगके रसकी प्राप्ति होती है। जो साधक योगके रसमें भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेकपूर्वक सद्गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। पर जो साधक मोक्षकी भी उपेक्षा कर देता है, उसे 'परम प्रेम'की प्राप्ति होती है, जो वास्तवमें पाँचवाँ पुरुषार्थ है।

परम शान्तिकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रायः सभी मनुष्य शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, पर वे उस शान्तिको विषयभोगोंमें ही खोजा करते हैं; किंतु विषयभोगोंमें कहीं शान्ति है नहीं। बल्कि उनमें तो अशान्ति-ही-अशान्ति भरी हुई है। अब भोगोंमें शान्ति है ही नहीं, तब फिर वहाँ खोज करनेसे वह कैसे मिलेगी? जैसे अग्निमें शीतलता असम्भव है, वैसे ही संसारके विषयोंमें शान्ति असम्भव है। बहुत-से मनुष्य तो अज्ञानसे सांसारिक सुख और ऐश्वर्यकी वृद्धिमें शान्ति मानते हैं; किंतु सांसारिक सुखमें कहीं शान्ति नहीं है। उसमें जो क्षणिक शान्तिकी प्रतीति होती है, वह असली शान्तिके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। भ्रमसे ही उसमें शान्ति-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें उसमें शान्ति नहीं है। यदि उसमें सच्ची शान्ति होती तो वह स्थिर रहती; क्योंकि जो वस्तु वास्तवमें होती है, वही स्थिर रहती है—यह अच्छे महापुरुषोंका निश्चित सिद्धान्त है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
> (२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इसलिये संसारके भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह प्रतीतिमात्र ही है—मायिक है, वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार सुखके कई भेद बतलाये गये हैं—निद्रा-आलस्य-प्रमादसे होनेवाला सुख तामस है (गीता १८। ३९), इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजस है (गीता १८। ३८) तथा अन्तः-करणकी शुद्धिसे होनेवाली प्रसन्नता सात्त्विक सुख है (गीता १८। ३६-३७), इसी प्रकार शान्तिके भी तीन भेद समझने चाहिये। निद्रा-आलस्य-प्रमादमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह तामसी है; इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह राजसी है तथा चित्त-विक्षेप—चित्तकी चञ्चलताके अभावमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह सात्त्विक है (गीता १६। २)।

यह सात्त्विक सुख-शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होते हुए भी यदि साधककी इस सात्त्विक सुख-शान्तिमें भी आसक्ति हो जाती है तो यह भी बन्धनकारक हो जाती है (गीता १४। ६) और साधनमें रुकावट डाल देती है, जिससे साधन आगे बढ़ने नहीं पाता; क्योंकि देहमें अहंता-ममता होनेके कारण साधक अपनेमें अज्ञानसे श्रेष्ठताका अभिमान कर लेता है, जिससे उसकी उसमें आसक्ति हो जाती है, जो साधनमें महान् विघ्न है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो अपनेमें अच्छे गुणोंका अभिमान पतनमें हेतु हो जाता है। अतः साधकको अपनेमें गुणोंका अभिमान कभी करना ही नहीं चाहिये। सिद्ध महात्मा पुरुष तो अपनेमें गुणोंका अभिमान कभी करते ही नहीं। साधकमें कहीं-कहीं अज्ञानके कारण गुणोंका अभिमान आ जाता है, उससे उसको सदा सावधान रहना चाहिये और उसका त्याग कर देना चाहिये।

परमात्मा परम शान्तस्वरूप हैं। श्रीरामचरितमानस-के सुन्दरकाण्डके मङ्गलाचरणमें श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

> शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।

'मैं उन शान्त, सनातन, अप्रमेय (प्रमाणोंसे परे), निष्पाप, मोक्षरूप परम शान्ति देनेवाले भगवान् रामकी वन्दना करता हूँ।'

उन परम शान्त परमात्माको जो प्राप्त हो जाता है, उस पुरुषमें वह परम शान्ति आ जाती है, जो गुणोंसे अतीत है। भगवान् श्रीरामजीने भरतजीसे संतोंके लक्षणोंमें 'शान्ति' को उनका एक प्रधान लक्षण बतलाया है—

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३७। ३)

साधनकालमें साधकके हृदयमें जो शान्ति होती है, वह सात्त्विक है, जो उस असली परम शान्तिका साधन है। उसी भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको गीतादि शास्त्रोंमें शाश्वती शान्ति, परमा शान्ति, नैष्ठिकी शान्ति, अमृत, ब्रह्म, परमात्मा, परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि-आदि नामोंसे कहा गया है। उस परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बताये गये हैं। उनमें मुख्य तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। यहाँ उनका कुछ उल्लेख किया जाता है।

यह परम शान्ति भगवत्प्राप्त पुरुषमें तो स्वाभाविक ही होती है और साधकको साधनके द्वारा प्राप्त होती है। जो साधक कर्मयोगका साधन करते हैं, उनके निष्काम भावसे किये हुए कर्मोंका फल भी यही है; क्योंकि कर्मयोगमें कर्मोंकी प्रधानता नहीं है, निष्कामभावकी प्रधानता है। और पूर्णरूपसे निष्कामभाव हो जानेपर कर्मयोगके साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसकी साधनमें अटूट श्रद्धा तथा परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है; किंतु श्रद्धापूर्वक साधनके बिना शान्ति प्राप्त नहीं होती। भगवान्ने गीतामें कहा है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
(२। ६६)

'जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, ऐसे निष्कामभावसे रहित पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना (श्रद्धा) भी नहीं होती। तथा श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है; क्योंकि शान्ति तो निष्कामभावसे मिलती है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है; किंतु सकाम पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

जैसे श्रद्धापूर्वक कर्मयोगके साधनके द्वारा शान्तिकी प्राप्ति ऊपर बतायी गयी है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक ज्ञानयोगके द्वारा भी शान्ति प्राप्त हो जाती है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका नाश एवं संसारके विषयभोगोंमें वैराग्य होकर मनसहित इन्द्रियोंका संयम हो जाता है और फिर परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त कर्मयोग और ज्ञानयोगके द्वारा जो साधनकी परिपक्व अवस्था होती है, उसका नाम निष्ठा है। उस निष्ठाका फल परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परम पदकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा

मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

तथा आगे यह भी बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५।५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञानयोगका और श्लोक ४० से ५३ तक कर्मयोगका वर्णन किया है। भक्तियोग भी कर्मयोग ही है। भगवान्ने भक्तियोगके द्वारा भी शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति इस प्रकार बतायी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता।'

अतएव भक्तियोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये अनन्यभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन-स्मरण नित्य-निरन्तर करना परम आवश्यक है।

परमात्माकी प्राप्तिमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही साधन समान हैं। अधिकारि-भेदसे ही पृथक्-पृथक् साधन बतलाये गये हैं। जिस साधककी जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि है, वह उसी साधनका पात्र है। वास्तवमें तीनोंका फल एक होनेसे तीनों ही समान हैं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

कर्मयोगके द्वारा साधकमें पूर्ण निष्कामभाव आ जानेपर परमशान्तिकी प्राप्ति जगह-जगह बतायी गयी है। भगवान् कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गीता २। ७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही महापुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

अभिप्राय यह है कि जिसमें समस्त भोग प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आ-आकर विलीन हो जाते हैं और जो स्वयं किसी भी भोगकी जरा भी कामना नहीं करता, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला मनुष्य कभी शान्तिको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसका चित्त निरन्तर अनेक प्रकारकी भोग-कामनाओंसे चञ्चल रहता है और जहाँ चञ्चलता है, वहाँ शान्ति कैसे रह सकती है । वहाँ तो पद-पदपर अशान्ति, चिन्ता, जलन और शोक ही निवास करते हैं । इसलिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंकी सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा त्याग करके तथा अहंता-ममता और स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका आचरण करना चाहिये । यह भी परम शान्तिकी प्राप्तिका एक महत्त्वपूर्ण साधन है ।

भगवान्‌को तत्त्वसे जानने, उनकी अनन्य भक्ति करने और उनकी शरण होनेसे भी परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्‌ने कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५ । २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञों और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त होता है ।'

कठोपनिषद्‌में नचिकेताके प्रति यमराजके वचन हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
(२ । २ । १३)

'जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला इन अनेक प्राणियोंकी कामनाओंका (उनके कर्मानुसार) विधान करता है, उस अपने अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं ।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में भी बतलाया गया है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(४ । ११)

'जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता होता है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परम देव परमात्माको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस परम निर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(श्वेता० ४ । १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है ।'

श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर श्रीकविजीने राजा निमिसे कहा है—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
(११ । २ । ४३)

'राजन्! इस प्रकार जो निरन्तर प्रत्येक चित्तवृत्तिके द्वारा भगवान्के चरण-कमलोंका ही भजन-स्मरण करता है, उस भक्तको भगवान्के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान—ये सब अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं और फिर वह साक्षात् परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

गीताके छठे अध्यायमें ध्यानके प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
(६ । १४-१५)

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित हो। वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

आगे अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको ईश्वरकी शरणमें जानेसे शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

'हे अर्जुन! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—तीनों ही साधनोंके द्वारा परम शान्तिका प्राप्त होना बताया गया है तथा ये तीनों ही साधन अपने-अपने स्थानमें सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं।

गीतामें भगवान्ने निष्कामभावको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(१२ । १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

भाव यह कि जिसके साथ पूर्ण निष्कामभाव है, वही श्रेष्ठ है तथा उसकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गीता ६ । १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

भाव यह कि अग्निका त्याग करनेवाला यदि निष्कामी नहीं है तो वह संन्यासी नहीं है और क्रियाओंका त्याग करनेवाला भी यदि निष्कामी नहीं है तो वह योगी नहीं है।

भक्तियोगके साधकको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार ज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(गीता ४ । ३३)

'हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र संपूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ।'

इस प्रकार गीतामें इन तीनों ही साधनोंको अधिकारिभेदसे श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पाप-नाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परम शान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करनेवाले बताया गया है*। इसलिये जिस साधककी इनमेंसे जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि हो, उसके लिये वही साधन सबसे बढ़कर है । ऐसा समझकर उसे उसी साधनको अपना-कर तत्परतासे उसका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे शीघ्र ही परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाय ।

आन्तरिक खोजकी पूर्णताके लिये मानसिक विकासकी आवश्यकता

(लेखिका—श्रीमाँ, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी)

'आन्तरिक खोजकी क्रियाको पूर्ण बनानेके लिये मानसिक विकासकी उपेक्षा नहीं करना युक्त होगा; क्योंकि मानसिक करण समान भावसे ही महान् सहायक अथवा महान् बाधक हो सकता है । स्वाभाविक अवस्थामें मानव-मनकी दृष्टि सदा सीमित होती है, उसकी समझ संकुचित होती है तथा उसके विचारोंमें अनमनीयता होती है । अतः उसे विशाल, नमनीय एवं गम्भीर बनानेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता है ।'

(—जीनेकी कला, बुलेटिन, नवम्बर १९५०)

मुसीबत तो यह है कि अधिकांश लोग, जितना ही अधिक वे सोचते हैं, उतना ही अधिक अपनेको बड़ा समझते हैं । मन अपनेमें ही संतुष्ट रहता है और प्रगतिके लिये अधिक अभीप्सा नहीं करता । वह समझता है कि उसे सब कुछ माळूम है । बहुत-से लोग यह समझते हैं कि उनके समझनेका ढंग ही सबसे बढ़कर है । उनके मनमें यह बात प्रवेश ही नहीं कर पाती कि एक ही विषयके समझनेके लिये सदा कई ढंग होते हैं और जितना ही अधिक उनका विचार सबल और परिपक्व होता है, उतना ही अधिक उनका विश्वास होता है कि सोचनेका बस, केवल एक ही तरीका है । इसीलिये मैंने यहाँ कहा है कि कुछ प्रकारके अभ्यास तुम्हारे विचारको विशाल बना सकते हैं और तुममें एक ही समयमें वस्तुओंको कई दृष्टिकोणोंसे देखनेकी आदत डाल सकते हैं ।

'एक ही वस्तुको, जितने अधिक-से-अधिक दृष्टि-कोण सम्भव हों, उतनेसे देखना अत्यन्त आवश्यक है । इसके लिये एक अभ्यास है जो विचारको बड़ी ही नमनीयता और उच्चता प्रदान करता है । उसकी विधि यह है—हम एक सिद्धान्तको खूब स्पष्ट शब्दोंमें सामने रखते हैं और फिर उतनी ही बारीकीसे उसका उलटा

---

* इस विषयका विस्तृत विवेचन 'कल्याण' के ३२ वें वर्षके ५ वें अङ्कमें 'गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये ।

पक्ष उपस्थित कर उसका खण्डन करते हैं। तब गम्भीरतापूर्वक सोचकर उस समस्याको व्यापक बनाना चाहिये अथवा उससे ऊपर उठ जाना चाहिये, जबतक कि हमें उसका ऐसा समन्वय न मिल जाय जो उन दोनों विरोधी सिद्धान्तोंको एक बृहत्तर, उच्चतर तथा अधिक व्यापक विचारमें मिला दे।'

अच्छा, अब तुम मेरे सामने एक सिद्धान्त रक्खो।

एक लड़का—संसारमें सभी अपने दुःखोंका भार लिये फिरते हैं; यह हुआ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष—कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सारे मानवीय कष्टोंसे ऊपर हैं।

और इनका समन्वय ?

दूसरा लड़का—प्रत्येकके अंदर कोई ऐसा भाग होता है जो समस्त कष्टोंसे ऊपर होता है।

तीसरा लड़का—संसारमें अनेकों प्रकारके लोग हैं।

चौथा लड़का—दुःखोंके पार चले जानेके लिये दुःखका बोझ उठाना आवश्यक है।

यह तो कोई समन्वय नहीं हुआ।

पहला लड़का—मैंने अपने सिद्धान्तके पूर्वपक्षमें 'सामान्य' लोगोंकी बात कही थी और उत्तरपक्षमें विशिष्ट लोगोंकी।

ठीक है, किंतु क्या तुम ऐसा समझते हो कि विशिष्ट लोगोंको दुःख होता ही नहीं! बड़े-से-बड़े लोगोंको भी अपने दुःखोंका बोझ ढोना ही पड़ता है।

सब कुछ निर्भर करता है चेतनाकी विभिन्नतापर। कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें बाह्य चेतनाकी अवस्थाएँ सबसे अधिक विकसित होती हैं। इसके विपरीत अन्य लोग हैं जो उच्चतर चेतनाकी अवस्थाओंको विकसित करनेकी ओर ही ध्यान देते हैं। अतः यह कहना कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने दुःखका बोझ ढोना पड़ता है, बाह्य चेतनाके विषयमें (उन भौतिक घटनाओंके, जो हमारी प्राणिक, भावनात्मक तथा मानसिक स्तरोंका स्पर्श करती हैं, विषयमें) ठीक है। ऐसे लोगोंके लिये विपत्तियाँ सदा ही प्रचुर मात्रामें रहेंगी। विपत्तियोंकी अधिकता व्यक्तिकी क्षमताके अनुपातमें रहती प्रतीत होती है, लगता है जैसे, व्यक्तिकी जितनी सहनेकी क्षमता है, उनकी मात्रा ठीक उसीके अनुसार होती है। निश्चय ही ऐसा हो सकता है कि जिनकी क्षमताएँ महत्तर हैं, उनके दुःखों और कष्टोंकी मात्रा भी प्रचुर हो।

पर ऐसे भी लोग हैं जो दुःखोंसे ऊपर हैं और फिर भी उनके लिये कष्टोंका अस्तित्व है। ऐसा क्यों ? क्योंकि उनमें आन्तरिक चेतना बाह्य चेतनाकी अपेक्षा अधिक सबल और विकसित है (यहाँ मैं 'रूपान्तरित व्यक्तियोंकी बात नहीं कर रही; क्योंकि उनके अंदर तो हम वस्तुओंकी ऐसी स्थितिकी परिकल्पना कर सकते हैं जहाँ उनकी भौतिक सत्तातक दुःखोंसे ऊपर हो। आज मनुष्य जिस अवस्थामें हैं, मैं उसीकी चर्चा कर रही हूँ)। यदि तुम्हारी चेतना किसी ऐसे स्थानपर स्थित है, जहाँ इन बाह्य वस्तुओंका अस्तित्व नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि तुम अपने दुःखका बोझ वहन नहीं करते। फिर भी कुछ अपवाद हैं। ऐसे मनुष्य भी हैं जो दुःखोंके ऊपर रहते हुए भी अपने दुःखोंको वहन करते हैं। इन दो परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाली वस्तुओंका क्योंकर समझौता किया जाय ?

एक लड़का—विपत्तियाँ विभिन्न प्रकारकी होती हैं।

ऐसी बात नहीं है। मानव-दुःख और कष्ट सदा एक ही प्रकारके होते हैं। कई ऐसे दुःख होते हैं जो तुम्हारे अंदरसे ही आते हैं अथवा परिस्थितियों या वस्तुओंकी सामान्य स्थितिसे प्रादुर्भूत होते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जन्मसे ही इन दुःखोंके अधीन होते हैं और कोई इनसे बच नहीं सकता। इनकी तीव्रताकी मात्रा सदा एक-सी नहीं होती, पर ये

सदा होते अवश्य हैं। अतः ऐसा लगता है मानो यहाँ कोई विरोध हो। पर ऐसी प्रतीति गलत है। कारण, कुछ लोगोंके लिये वे अस्तित्व रखते हुए भी मानो कोई अस्तित्व नहीं रखते। वे होते हुए भी मानो होते ही नहीं। किंतु न तो एक बात ही पूरी-की-पूरी सच है और न दूसरी ही, और उसी प्रकार न तो एक बात ही पूर्णतः मिथ्या है और न दूसरी ही।

मानव-चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है (यह कोई अतिमानवी चेतना नहीं, वास्तविक मानवी चेतना है) जहाँ ये दोनों साथ-ही-साथ रह सकती हैं—दुःख मनुष्यको हो सकता है, पर ऐसा भी हो सकता है कि वह उसका अनुभव नहीं करे; ऐसा रहे मानो दुःखका कोई अस्तित्व ही न हो। कहनेका अभिप्राय यह है कि कोई भी दुःख केवल बाह्य चेतनाको ही स्पर्श करता है अर्थात् भौतिक, मानसिक, प्राणिकको ही···अन्तरात्मिक सत्ता सभी दुःखोंसे ऊपर होती है। एक बड़ा सरल-सा उदाहरण ले लें—एक बीमारीका। शारीरिक गड़बड़ी कष्टकर होती है, कभी-कभी बहुत कष्टकर भी, पर कितने ही लोग चेतनाकी एक ऐसी अवस्थामें होते हैं कि उनके लिये शारीरिक कष्टका कोई अस्तित्व ही नहीं होता, वह उनके लिये कोई सच्ची वस्तु नहीं होती। यही वस्तु वियोगके सम्बन्धमें भी है। यदि कोई किसीसे प्रेम करता है और उससे जब उसे अलग होना पड़ता है तब उसे कष्ट होता है। इस प्रकारका कष्ट बहुत अधिक व्यापक कष्टोंमेंसे है, इसमें टूटनेवाली वस्तुएँ हैं आसक्तियाँ। किंतु चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें दो प्राणियोंके बीचका सच्चा बन्धन नहीं टूट सकता; क्योंकि वह उस जगत्की वस्तु नहीं, जहाँ वस्तुएँ टूटा करती हैं और इसलिये वे आनेवाली घटनाओंके ऊपर होते हैं।

पर उच्चतर चेतनाकी अवस्था तक पहुँचनेके पहले भी एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ मनुष्य अपने अंदर विवेक-बुद्धिको—एक स्वच्छ, स्पष्ट, युक्त और काफी आत्म-परक बुद्धिको—विकसित कर सकता है और जब यह बुद्धि काफी विकसित हो जाती है, तब समस्त आवेगों, संवेदनाओं, कामनाओं एवं गड़बड़ियों-को इसके सम्मुख रक्खा जा सकता है और यह तुम्हें विवेकशील बना देती है। अधिकांश लोग, जब उन्हें कोई वस्तु क्षुब्ध कर देती है, तब वे बड़े ही विवेकहीन हो जाते हैं। जैसे कि, जब वे बीमार हो जाते हैं, तब अपना सारा समय यही कह-कहकर काटा करते हैं—'ओह! मैं कितनी बुरी तरह बीमार हूँ, कितनी भयंकर है मेरी बीमारी! क्या यह सदा इसी प्रकार बनी रहेगी?' और स्वभावतः ही रोग अधिकाधिक बिगड़ता जाता है। अथवा यदि कोई विपत्ति उनपर आयी तो वे चिल्ला उठते हैं, 'बस, ये सारी चीजें केवल मेरे पास ही पहुँचा करती हैं और मैं हूँ जो पहले सोचा करता था कि सब कुछ अच्छा ही हुआ करता है' और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी लड़ी झरने लगती है और उनके स्नायु पस्त हो जाते हैं। अतिमानवोंकी बात तो छोड़ो, मनुष्यमें ही एक उच्चतर क्षमता होती है, जिसे विवेक-बुद्धि कहते हैं, जो वस्तुओंको ठंडे, शान्त और संगत भावसे देख सकती है। यह बुद्धि तुमसे कहती है, 'व्यथित मत होओ, इससे तुम्हारा कोई लाभ न होगा। शिकायत करना ठीक नहीं, जब कोई चीज आ चुकी है तो उसे स्वीकार कर लो।' तब तुम तुरंत ही पहले-से अधिक शान्त हो जाते हो। यह एक बड़ी अच्छी मानसिक शिक्षा है। इससे तुम्हारी विवेचनाकी क्षमता, तुम्हारी दृष्टि, तुम्हारा पदार्थज्ञान तो बढ़ता ही है, साथ-ही-साथ इसका तुम्हारे चरित्रके ऊपर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। यह तुम्हें रोने-धोने और स्नायविक तनावकी उपहासास्पद स्थितिमें पड़नेसे बचा लेती

और विवेकशील मनुष्यकी तरह आचरण करनेके लिये तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करती है।

एक बात जो मनके लिये बड़ी ही कठिन है किंतु जो मेरे विचारमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह है कि मनको कभी भी किसी व्यक्ति या वस्तुके प्रति अपनी राय नहीं ठोकनी चाहिये। ऐसा कहना कि वह चीज अच्छी है और वह बुरी, यह भली है और वह मंदी, अमुकमें ऐसा दोष है और अमुकके भीतर ऐसी खोटी वस्तु है, केवल छिद्रान्वेषण है।

वे सभी लोग जो अपनी बुद्धिसे काम लेते हैं, उनमेंसे जो जितना ही अधिक बुद्धिमान् होता है, उतनी ही अच्छी तरहसे यह समझ पाता है कि वह कुछ भी नहीं जानता और कि मनके द्वारा कुछ भी नहीं जाना जा सकता। वह किसी विशेष ढंगसे सोच सकता है, किसी विशेष ढंगसे अपनी मति प्रकट कर सकता है, किसी विशेष ढंगसे देख सकता है, पर कभी किसी भी बातका उसे निश्चय नहीं रहता—और न कभी किसी बातका निश्चय उसे होगा ही। वह बराबर यही कह सकता है, 'शायद यह ऐसा है' या 'शायद वह वैसा है' और इसी प्रकार वह अनिश्चित कालतक कहता चला जा सकता है; क्योंकि मन ज्ञान प्राप्त करनेका साधन नहीं है।

विचारोंके ऊपर विशुद्ध भाव हैं। विचार इन विशुद्ध भावोंको व्यक्त करनेके साधन होते हैं और ज्ञान विशुद्ध भावोंके स्तरसे बहुत ही ऊपर होता है, जिस प्रकार कि विशुद्ध भाव विचारोंसे बहुत ऊपर होते हैं। विचारोंसे ऊपर उठकर शुद्ध भावतक पहुँचना सीखना होगा और स्वयं विशुद्ध भाव भी ज्ञानका एक अनुवाद मात्र है और बिना पूर्ण तादात्म्यके ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये जब तुम अपने-आपको केवल अपने छोटे मानव-मनके भीतर ही रखते हो, उस भौतिक चेतनावाले मनके ही भीतर जो बराबर क्रियाशील रहता है और जो सब कुछको अपनी उपहासास्पद श्रेष्ठताकी ऊँचाईसे देखता है और निर्णय करता है, जो कहता है, 'वह बुरा है, उसे वैसा नहीं होना चाहिये,' तो निश्चय रक्खो कि तुम धोखा खाओगे ही और इसमें कभी कोई अपवाद नहीं होगा। अतः सबसे अच्छी बात है चुप रहना और वस्तुओंको अच्छी तरहसे देखना और तब धीरे-धीरे तुम्हारे अंदर कुछ प्रभाव अङ्कित होने लगते हैं। इन सबको तुम अपने भीतर बिना कोई मत प्रकट किये सँजोये रक्खो। जब तुम इन सबको अपने अंदर शान्त भावसे और बिना किसी प्रकारके विक्षोभके रखनेमें सक्षम होओगे और एक सतर्क नीरवता बनाये रखनेकी चेष्टा करते हुए इन सबको अपनी चेतनाके उच्चतम भागके समक्ष रख सकोगे और प्रतीक्षा करोगे, तब शायद धीरे-धीरे मानो बहुत दूर और बड़ी ऊँचाईसे आ रही हो, प्रकाश-जैसी कोई वस्तु अभिव्यक्त होगी और तुम जरा अधिक सत्य जान पाओगे।

किंतु जबतक तुम अपने विचारोंको विक्षुब्ध रक्खोगे और उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ोंमें खण्डित करते रहोगे, तुम कभी कुछ भी नहीं जान सकोगे। यदि आवश्यकता हो तो मैं तुम्हें यह बात सैकड़ों बार कहूँगी; किंतु मैं तुम्हें निश्चय दिलाती हूँ कि जबतक तुम इस बातपर विश्वास न करोगे, तुम कभी भी अपने अज्ञानसे बाहर नहीं निकल सकोगे।

'राधा', 'कृष्ण' और 'राम' नामकी महिमा

[राधा]

(१)

चाहौ जो प्रवेश देह-गेहको बिसारि हरि-नेह-वारिनिधि मैं निवारि भव-बाधा को ,
मन्दहासिनीके वृन्दाविपिनविलासिनीके नीके पदपङ्कजकी प्रीति हू अगाधा को ।
वासना हिये जौ गोपीभावकी उपासनाकी पायो चहौ कीरति किसोरी और काँधा को ,
व्रजरस-सिन्धुमें निमज्जनकी चाह है जौ, लीजै अविराम कवि 'राम' नाम राधा को ॥

(२)

सेवन करत या धरत ध्यान मैं जो सदा नर-अभिराम धन्य धन्य धाम राधा को ,
बाधा को बिदारि नेह-सरि मैं अगाधा न्हाइ सुमिरत नित्य पाठ आठों याम राधा को ।
दिवस-निसामें देखि सकल दिसा मैं तिन्हैं सुनै गुनै भनै मनै गुनग्राम राधा को ,
गली-गली, गैल-गैल डोलै जसुदाको छैल वाके संग, बोलै जो रुचिर नाम राधा को ॥

[कृष्ण]

(३)

चीर द्रौपदीको गह्यौ गरजि दुसासनने अरज लगायी अबलाने अघहारी सौं ,
लोपी लाज आज गोपीवल्लभ ! बचाओ धाय, हाय ! कोऊ और है सहाय न तुम्हारी सौं ।
सुनत पुकार कारखाना वस्त्रका ह्वै कृष्ण तोप दियो कृष्णाको अनूप रूप सारी सौं ,
सारीमयी नारी भयी भीत सभा सारी मौन कौन है कृपालु मधुसूधन मुरारी सौं ॥

(४)

साँवरे मलाह सौं सलाह मानि कीजै नेह बावरे ह्वै भवके प्रवाहमें न बहिये ,
सुदृढ़ जहाज जदि चाहिये तौ अरबिंदलोचन गुबिंद के पदारबिंद गहिये ।
इष्ट है अगर बसुधा पै सुधापान दिव्य सुरमुनि बृंद बंद्य 'विष्णु-पद' चहिये ,
सीत-उष्ण द्वंद सब सहिये सहिष्णुतासे सतत सतृष्ण ह्वै के 'कृष्ण-कृष्ण' कहिये ॥

[राम]

(५)

तोते को पढ़ाइ नामधन धनिका ह्वै धन्य गनिका अधम गननीय भो गुनन ते ,
पढ़ि पढ़ि 'राम राम' काया अभिराम पाइ सुक सुकदेव भयो नामके रटन ते ।
सिद्ध भयो गिद्ध साधि लीनो है असाध व्याध मुक्त भयो भवके कबंध बंधनन ते ,
वर रघुवरकी वरद नाम माला वरी सबरी बरिष्ठ भई सबरी तियन ते ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

प्रार्थनामय जीवन हो !

[गीत]

(रचयिता—श्रीअजयकुमारजी ठाकुर 'शिक्षक')

अंग-अंग औ रोम-रोमपर
करुणामयका आसन हो ।
चञ्चल मन भी काश······
रामपर स्थिर हो ॥
तज कुसंग औ,
सुखद संतकी संगति हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

पर-निंदाकी ओर कभी मन
न झुकता हो ।
स्वार्थ-त्यागका भाव सदा
मनपर बहता हो ॥
दीन-दुखी औ हरि-भक्तोंकी
यथाशक्ति सेवा हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

जीवन-पथपर सुख-दुख,
जो भी मिलता हो ।
उसे समझकर प्रभु-प्रसाद
अभिनंदन हो ॥
जीवनकी अंतिम वेलातक
किसी जीवका अहित न हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

मुझको जो कुछ करुणामयकी
कृपा-दृष्टिसे मिलता हो ।
ध्यान रखूँ मैं इसी बातका,
उसपर फिर अभिमान न हो ॥
परम-पिताकी सत्तापर
अपना विश्वास अडिग हो ।
हृदय-देहलीपर मेरी
नित आस्थाकी दीवाली हो ॥

यथालाभपर भी, मुझको,
संतोष परम मिलता हो ।
और सादगीपूर्ण, प्रकृतिसम्मत
जीवन हो ॥
करूँ प्रमाद न स्वल्प कभी,
जीवनका मूल्य उचित हो ।
जिह्वापर हरिनाम-सुधाकी
वृष्टि निरन्तर होती हो ॥

आवास हमारा शुचि, सुदूर
निर्जन पर हो ।
कदली आम्र बेल
तुलसीसे मंडित हो ॥
डाली-डालीपर उनकी,
विहग-गान सुमधुर हो ।
नभ-मंडलपर भी सुदूरतक
हवन-धूम्र प्रसरित हो ॥

निकट कहींपर गोचारण होता हो ।
गौओंकी संख्या दिन-दिन बढ़ती हो ॥
घरपर सुन्दर 'घिर्-घिर्' दधि-मन्थन हो ।
अच्छा होगा काश, प्रार्थनामय जीवन हो ॥

प्रार्थनाके लोकोत्तर चमत्कार

(लेखक—श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालङ्कार, काव्यतीर्थ)

प्रार्थना हृदयकी वस्तु है, इसलिये तर्कातीत है। दृढ़ विश्वासके साथ और सच्चे शुद्ध हृदयसे जो कुछ अपने प्रभुसे निवेदन किया जाय, वही प्रार्थना है। प्रार्थना मानसिक अतएव मूक भाषामें भी होती है और वाचिक भी। वाचिक प्रार्थना सच्ची तब होती है, जब उसका पूर्ण सम्बन्ध हृदयके साथ रहता है। अपने भावों और अपने शब्दोंके अतिरिक्त संतोंकी वाणीमें भी उत्तम प्रार्थना होती है; किंतु संत-वाणीके साथ अपने हृदयका एकतान होना आवश्यक है। किसी भी भक्तके द्वारा की गयी प्रार्थना, जब हमारे हृदयका उद्गार बन जाती है—हम उसके साथ एकरूप हो जाते हैं, तब वह प्रार्थना अपनी हो जाती है और भव-भय-हारिणी तथा आत्म-कल्याण-कारिणी बन जाती है।

प्रयत्नवादी जब अथक प्रयत्नके बाद थककर अहंकार-मुक्त हो जाता है और उसे अपनी शक्तिहीनता तथा सामर्थ्य-शून्यताकी सच्ची अनुभूति हो जाती है, तब वह विवश और असहाय होकर प्रभुकी ओर उन्मुख होता है और अपनी सच्ची प्रार्थनाके द्वारा प्रभुकी अद्भुत शक्तिके अनन्त सामर्थ्यके तथा लोकोत्तर सौहार्दके कल्पनातीत चमत्कार देखने लगता है। ऐसी परिस्थितिमें प्रभुकी सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञताका भी पूरा भान हो जाता है और प्रार्थी प्रभुकी अहैतुकी कृपाका अनुभव करता हुआ आश्चर्याधिक्य और आनन्दातिरेकसे गद्गद हो जाता है।

द्वेषमूलक या पर-हित-विरोधिनी प्रार्थना अपवित्र होनेके कारण प्रभुतक पहुँच ही नहीं पाती; इसलिये वह कभी भी फलवती नहीं हो सकती। प्रार्थीको सर्वप्रथम अपनी वृत्तिको अविरोधिनी बनाना चाहिये; तब प्रार्थनामें प्रवृत्त होना चाहिये। आप यह प्रार्थना न करें कि 'मेरे शत्रुका नाश हो जाय'; क्योंकि इस प्रार्थनामें पर-हितका विरोध है, इसलिये विकार है। हाँ, आप यह प्रार्थना कर सकते हैं कि 'जिसके साथ मेरी शत्रुता है, उसका शत्रुत्व-भाव नष्ट हो जाय और वह मेरा मित्र बन जाय।' यह प्रार्थना विकार-मुक्त होनेके कारण शुद्ध, अतएव सफल होने योग्य है। प्रार्थनामें अविरोधिनी वृत्तिका होना तो अत्यावश्यक है ही; प्रार्थनाका प्रादुर्भाव भी मनसे होना चाहिये; केवल वचनसे नहीं।

भरी सभामें कौरवोंके द्वारा अपमानित होती हुई द्रौपदीने 'गोविन्द' और 'कृष्ण' नाम लेकर भगवान्‌को शब्दोंद्वारा तो पुकारा ही, मनसे भी उनका चिन्तन किया।

वह दीनवाणीमें बोली—'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी हे श्रीकृष्ण! हे गोपियोंके प्रिय! हे केशव! क्या आपको ज्ञात नहीं है कि कौरवोंके द्वारा मैं अपमानित हो रही हूँ? हे नाथ! हे लक्ष्मीनाथ! वे ब्रजनाथ! हे दुःखनाशक! हे जनार्दन! कौरव-सिन्धुमें मुझ डूबी हुईका आप उद्धार कीजिये। हे महायोगी विश्वात्मा विश्वभावन गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! कौरवोंके बीच दुःख झेलती हुई मुझ शरणागताको बचाइये।'

भक्त द्रौपदीकी यह दीन-प्रार्थना उसके हृदयका ही निश्छल उद्गार था। अतएव सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भक्तवत्सल परम प्रभुको इस प्रार्थनाने पूर्ण प्रेरित कर दिया और द्रौपदीकी लज्जा-रक्षामें वह अभूतपूर्व चमत्कार दिखलाया कि सारी-की-सारी सभा आश्चर्यमें डूब गयी। प्रणत-पाल प्रभुका वस्त्रावतार हुआ और रंग-बिरंगे वस्त्रोंका ढेर लग गया। दस सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाला दुष्ट दुःशासन वस्त्र खींचते-खींचते थककर, लज्जित होकर बैठ गया; किंतु प्रार्थिनी द्रौपदीकी दसगजी साड़ी नहीं घटी—

> 'दस सहस्र गजबल थक्यो,
> घट्यो न दस गज चीर।'

यह है हार्दिक प्रार्थनाका आश्चर्यकारी चमत्कार!

ग्राहग्रस्त गजेन्द्रने भी आत्म-रक्षाके लिये भगवान्‌का स्तवन किया था। वह स्तवन भी गजराजके एकाग्र मनसे ही प्रादुर्भूत हुआ था और गजेन्द्रकी आर्त्त-प्रार्थना सुनते ही चक्रधारी गरुडारूढ भगवान् गजेन्द्रके निकट आ गये। तब उस दीन गजने उस असहायावस्थामें भी क्या किया, इसे महर्षि व्यासजीके ही शब्दोंमें देख लीजिये—

> सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
> दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
> उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
> न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥
> (श्रीमद्भागवत ८।३।३२)

'सरोवरके भीतर प्रबल ग्राहकी पकड़में आकर दुखी हुए उस गजने गरुड़पर सवार तथा सुदर्शनचक्रको ताने हुए भगवान् विष्णुको आकाशमें देखकर कमल-युक्त सूँड़को ऊपर उठाया और अधिक पीड़ाके कारण बड़ी कठिनाईसे वह यह वाक्य बोला—"हे सर्वपूज्य भगवन्! हे नारायण! आपको प्रणाम है।'

गजेन्द्रको घट-घटव्यापी भगवान्‌की अहैतुकी करुणापर दृढ़ विश्वास था, तभी तो उसने भगवत्पूजाके लिये पहलेसे ही कमल-कुसुमको अपनी सूँड़में ले रक्खा था। गजेन्द्रने सब ओरसे मनको समेटकर सच्चे विश्वासके साथ भगवान्‌की प्रार्थना की थी। प्रार्थनाके प्रभावसे प्रकट हुए भगवान् श्रीहरिने क्या किया, यह भी देख लीजिये—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥
(श्रीमद्भागवत ८। ३। ३३)

'उसे पीड़ित देखकर अजन्मा श्रीहरिने शीघ्रताके लिये अकस्मात् गरुड़से सरोवरपर उतरकर कृपापूर्वक ग्राहके साथ उस गजेन्द्रको तुरंत सरोवरसे बाहर निकाला और देवताओंके देखते-देखते उस ग्राहके मुँहको चक्रसे चीरकर गजेन्द्रको छुड़ा लिया।'

द्रौपदी और गजेन्द्रकी प्राचीन घटनाओंका उल्लेख करके मैंने प्रार्थनाके अनोखे चमत्कार दिखलाये। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युगमें ऐसे चमत्कारके उदाहरण मिल नहीं सकते। आज भी भगवान्‌का भरोसा रखनेवाला, यदि हृदयसे प्रार्थना करता है, तो अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान् तत्काल ही उसकी प्रार्थनाको सफल बनाते हैं। महर्षि व्यास-जैसा त्रिकालदर्शी कवि तो आज रहा नहीं, जो प्रार्थनाके आधुनिक चमत्कारोंको जान ले तथा उसे अपनी वाणीका अमृत पिलाकर अमर बना दे।

इन पंक्तियोंके लेखकको भी प्रार्थनाके अनूठे चमत्कारोंके निजी अनुभव हुए हैं। यदि आपके हृदयमें थोड़ा भी आस्तिक-भाव हो, तो इन सच्ची घटनाओंपर विश्वास कर प्रभु-प्रार्थनाके अद्भुत चमत्कारोंको हृदयङ्गम कीजिये।

आजसे चौबीस वर्ष पहले मैं 'फ़ैलेरिया'के असह्य दर्दसे अत्यन्त पीड़ित रहता था। अपने इष्टदेवका विशाल और नयनाभिराम चित्र, जिसे उच्च स्थानपर मैंने पूजार्थ रक्खा था, उसके अधोभागमें मानो प्रभुके पादारविन्दोंके नीचे मस्तक रखकर पड़ा-पड़ा मैं कराहता और भगवन्नामकी रट लगाये रहता था। मैं भगवन्नामका गान स्वान्तःसुखाय ही करता था, पीड़ा-निवारणार्थ कभी नहीं।

मैं अपने स्वभावानुसार अपने प्रभुसे प्रभु-प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माँगता था, न माँगना चाहता था। मैं सोचता था कि 'दुःख तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है; इसे तो मुझे स्वेच्छासे ही भोग लेना उचित है। इसके निवारणार्थ प्रभुसे प्रार्थना क्यों करूँ? इस छोटी बातके लिये अपने भगवान्‌को कष्ट क्यों दूँ? फिर दुःख तो बुरी वस्तु भी नहीं है। दुःखसे आत्म-शुद्धि होती है, हृदयके विकार मिटते हैं। इससे तो लाभ-ही-लाभ है और महान् लाभ है। यदि दुःख लाभकारी नहीं होता, तो परम कृपालु प्रभु इसका विधान ही नहीं करते। जब कोई भी पिता अपने प्यारे पुत्रके लिये हानिकारक पदार्थ नहीं देता, तो वे परमपिता हम पुत्रोंके लिये दुःखकी सर्जना ही क्यों करते?' मैं इसी निश्चयपर डटा रहता था और भिन्न-भिन्न सांसारिक दुःख जब-जब आ जाते थे, तब उन्हें झेलता हुआ यथा-सम्भव हरिनामकी रट लगाये रहता था। नामानन्द ही मेरा महानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द बना रहता था।

एक दिन कुछ क्षणोंके लिये मेरा दर्द इतना बढ़ा कि मेरा चिर-निश्चित विचार अकस्मात् मूर्च्छित होकर डावाँडोल हो गया और जाने-अनजाने मेरे मुँहसे यह शब्दावली सहसा निकल पड़ी—'नाथ! अब तो यह पीड़ा मिटाओ या इसे सहनेकी शक्ति दो।' अपनी अर्ध-मूर्च्छित अवस्थामें ही अपने ही मुखसे उच्चरित इन शब्दोंको मैंने सुना। फिर क्या हुआ, मैं आपसे क्या कहूँ, कैसे कहूँ? जैसे लहराता-उफनाता समुद्र पलक मारते सूख जाय, उसी प्रकार वह अपार पीड़ा क्षणार्द्धमें ही सहसा काफूर हो गयी। यह रोमाञ्चकारिणी आश्चर्यमयी घटना जैसे ही घटी, मैं फूट-फूट कर रोने लगा—'हाय! मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला! अपने क्षणिक कष्टके निवारणके लिये प्रभुको ही कष्ट दे दिया।' मुझे ऐसा लगा कि करुणामय प्रभु मेरे असह्य कष्टको देखकर करुणा-कातर हो रहे थे और बड़ी व्याकुलताके साथ मेरी पुकारकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अधीरताकी परिस्थितिमें पीड़ा-मुक्तिकी पुकार जैसे ही मुखसे निकली

कि उन भक्तवत्सलने क्षणार्द्धमें ही अपनी करुणाके लोकोत्तर प्रकाशके द्वारा निविड कष्टान्धकारका निवारण कर दिया। यह है प्रभुकी प्रार्थनाका प्रोज्ज्वल प्रभुत्व-विहार, यह है निर्विकार पुकारका अलौकिक चमत्कार !

अब लीजिये, प्रार्थनाके चमत्कारकी दूसरी दिव्य और भव्य झाँकी। उन दिनों भगवत्प्रेरणासे कम-से-कम दस पंक्तियोंका एक भजन लिखकर ही मैं दिनका भोजन करता था। रविवारके अवकाशमें घर गया, तो परिवारके लोगोंने मझली कन्याके परिणयके लिये इतना प्रबल अनुरोध किया कि मैं चिन्ताकुल हो गया। अर्थाभाव ही इस चिन्ता-का प्रमुख कारण था। यह अर्थ-चिन्ता भगवच्चिन्तनमें बाधक बन गयी और उस दिनके भजनमें अर्थ-चिन्तनका ही स्वर प्रधान बन गया। भजनकी कुछ पंक्तियाँ निम्नाङ्कित थीं—

प्रभुजी, कैसे धर्म निभाऊँ ?
अवलम्बित है धर्म अर्थपर, अर्थ कहाँसे पाऊँ ?
अर्थ बिना इस धर्म-तरीको कैसे पार लगाऊँ ?
अन्न कहाँसे, वस्त्र कहाँसे, द्रव्य कहाँसे लाऊँ ?
मोटी थैली तिलक-दानकी, मैं किस भाँति जुटाऊँ ?

भजन लिखकर मैं खड़ा हुआ और भोजनके लिये जाना ही चाहता था कि मेरे पड़ोसी एक माननीय मित्र वहाँ आ गये और मेरी मुख-मुद्रासे मेरी आन्तरिक चिन्ता-को भाँप गये। ये मित्र इतने सच्चरित्र, मितभाषी और हितैषी थे कि मैंने अपनी चिन्ताका विषय इनसे स्पष्ट ही कर दिया।

मुझे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा, जब बड़ी दृढ़ता-के साथ आपने मुझसे कहा—'आप विवाह ठीक कीजिये, सारा वैवाहिक खर्च मैं दूँगा।' अपने मित्रकी सच्चाईका तो मैं पुजारी था, किंतु इनकी आर्थिक दुर्बलतासे भी पूर्ण परिचित था। इसलिये मैं उत्सुकतावश पूछ ही बैठा—'आप कहाँसे देंगे ?' उन्होंने चौगुनी दृढ़ताके साथ कहा—'इससे आपको क्या मतलब ? मैं कहींसे दे दूँगा।'

अब मैं कुछ बोल नहीं सका और वे उसी क्षण चले गये। मुझे विश्वास हो गया कि आजकी प्रार्थनामें अर्थ-चिन्ताका जो विकार आ गया, उसीके निवारणार्थ साक्षात् भगवान् ही मित्र-रूपमें आ गये और मुझे अर्थ-चिन्तासे पूर्णतः मुक्त कर गये। आजकी यह भाषा श्रीमन्नारायणकी थी; मेरे पड़ोसी मित्रकी नहीं।

भगवत्कृपाका ऐसा चमत्कार हुआ कि विवाह भी उसी दिन निश्चित हो गया और दस दिनोंके भीतर ही सारा वैवाहिक कार्य सानन्द सम्पन्न हो गया। इस विवाह-कार्यमें बिना माँगे ही मुझे अन्य दो मित्रोंसे ऐसी और इतनी आर्थिक सहायता आप-ही-आप मिल गयी, जिसकी आशातक मुझे नहीं थी। अपने पड़ोसी मित्रकी सहायताको तो कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक मुझे रोक देना पड़ा; क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही।

इस प्रकारके एक अन्य संकटसे भी मेरी विवश और मूक प्रार्थनाने मुझे अनोखे ढंगसे बचा लिया। तबसे मैं अधिक सावधान रहता हूँ और प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि 'भगवत्प्रेमकी ही वृद्धि और दृढ़ताके लिये मैं प्रार्थना किया करूँ; अन्य किसी भी लक्ष्य-सिद्धिके लिये भगवत्प्रार्थी न बनूँ।'

हमारे लिये जो कुछ आवश्यक है, प्रभु हमें वही देते हैं। वस्तु-विशेषके हमें नहीं मिलनेका अर्थ है, प्रभुकी दृष्टिमें वह वस्तु-विशेष हमारे लिये हितकर और श्रेयस्कर नहीं है। इसलिये परम हितैषी प्रभुने हमें जो कुछ नहीं दिया है, वह अभाव ही हमारे लिये अत्यावश्यक है और जो कुछ दिया है, वही समुचित, परमावश्यक तथा कल्याणप्रद है।

औषधालयमें विविध प्रकारकी ओषधियाँ विद्यमान रहती हैं। किंतु हितैषी और चतुर चिकित्सक जिस व्यक्तिके लिये जो ओषधि बतला देता है, उसके लिये वही ओषधि लाभ-कारिणी होती है और जिसके लिये जो संयम बतला देता है, उसके लिये वही हितकारी सिद्ध होता है।

हमारे हिताहितका ज्ञान प्रभुसे अधिक है किसको और कौन है प्रभुसे बड़ा हमारा हितैषी ? फिर हम अपने परम हित-चिन्तक प्रभुकी पक्षातीत और तर्कातीत व्यवस्थापर विश्वासपूर्वक निर्भर क्यों न रहें ? प्रभुने हमें परिवार नहीं दिया, धन नहीं दिया, भवन नहीं दिया; इसमें हमारा कौन-सा कल्याण छिपा है, इसे वे सर्वज्ञ प्रभु ही जानते हैं; हम अल्पज्ञ जीव उन जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी परमेश्वरी व्यवस्थाको नहीं समझ सकते।

फिर वस्तु-विशेषके लिये उन सर्वज्ञ, सर्वसुहृद् प्रभुसे प्रार्थना क्यों ? पर यदि प्रार्थना करनी ही हो तो वह प्रभुसे ही मन-ही-मन की जाय; किसी सांसारिक प्राणीसे नहीं। यदि

प्रार्थना दोषमुक्त और कल्याणकारिणी होगी तो प्रभु उसकी पूर्ति करके हमें अनुगृहीत करेंगे या उस प्रार्थित पदार्थके लिये प्रादुर्भूत हुई हमारी याचकता या कामनाको ही जलाकर हमें सदाके लिये संतुष्ट और अनुकम्पित कर देंगे। यही होगा हमारे लिये चरम और परम लाभ। यह याचकता या कामना ही अखिल संसारको बलात् जलाती रहती है। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने अपना अमर संदेश देकर हमें सचेत किया है—

जग जाँचिअ कोउ न, जाचिअ जौं
जियँ जाँचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाँचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
(कवितावली, उ० कां० २८)

प्रार्थना, स्तुति और गुणगान

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी श्रीवास्तव 'अनुराग')

वैसे व्यावहारिक बोलचालमें 'प्रार्थना' शब्दके अन्तर्गत स्तुति और गुण-कीर्तन भी समझ लिया जाता है; और 'कल्याण'के प्रस्तुत इस वर्षके विशेषाङ्कके नामकरणमें भी 'प्रार्थना' शब्दका प्रयोग कुछ ऐसे ही व्यापक अर्थमें प्रतीत होता है; फिर भी प्रार्थना, स्तुति और गुणगानका अपना-अपना कुछ विशेष स्थान भी है और इनके सूक्ष्म भेदको अलग-अलग करके समझ लेना साधकके लिये समयपर उपयोगी होता है।

प्रार्थनामें भगवान्‌के प्रति कोई-न-कोई माँग होती है। संसारमें भी किसी उच्च अधिकारीको कोई प्रार्थनापत्र दिया जाता है तो उसमें कोई माँग अवश्य होती है। यही बात भगवान्‌की प्रार्थनामें भी समझनी चाहिये।

प्रार्थनामें माँगके साथ ही अपनी आवश्यकताका स्पष्टीकरण, साथ ही उस आवश्यकतापर विशेष बल देनेके लिये दैन्य और कार्पण्यका प्रदर्शन भी प्रार्थनाका महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता है। यही बात भगवान्‌की प्रार्थनाके सम्बन्धमें भी है।

पर संसारी अधिकारियोंके प्रति दिये हुए प्रार्थनापत्रोंमें और भगवान्‌की प्रार्थनामें बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि संसारी अधिकारियोंके प्रति दिये गये प्रार्थनापत्रोंमें प्रायः झूठ और कपट भी चल जाता है; कारण कि यहाँ प्रार्थना सुननेवाले अधिकारी सर्वज्ञ और अन्तर्यामी नहीं होते; उन्हें तो यथार्थताकी जाँचके लिये केवल युक्तियोंका सहारा लेना पड़ता है; पर भगवान् सर्वज्ञ और सबके हृदयके जाननेवाले सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिये उनके प्रति झूठ और कपट नहीं चल सकता। अतएव भगवान्‌के प्रति प्रार्थनामें यह आवश्यक है कि उस प्रार्थनाके अन्तर्गत की हुई माँगके सम्बन्धमें आवश्यकताका स्पष्टीकरण निष्कपट भावसे बिल्कुल सत्य और यथार्थ हो और इसी प्रकार उस आवश्यकतापर विशेष बल देनेके लिये दैन्य और कार्पण्यका प्रदर्शन भी बिल्कुल सच्चे हृदयसे हो, न कि केवल दिखावटी शिष्टाचार अथवा बोलनेकी परम्पराके रूपमें। तभी प्रार्थनामें सफलताकी भी आशा की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त हम जिस बातके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, उस अपनी माँगके यथार्थ औचित्यके सम्बन्धमें भी, हमें प्रार्थना करनेके पूर्व ही, स्वयं अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि यदि प्रार्थनामें की हुई माँग परिणाममें स्वयं प्रार्थना करनेवाले भक्त-साधकके लिये हितकर नहीं है; पर किसी प्रकारकी संसारी आसक्तिके वश होकर वह उसे ठीक ही समझता है, तो ऐसी स्थितिमें, अथवा यह कि उस माँगकी पूर्तिसे स्वयं भगवान्‌के ही लोकसंग्रहकी व्यवस्थामें कोई विशेष विक्षेप पड़ता है, ऐसी स्थितिमें, या तो वह प्रार्थना निश्चय ही अनसुनी-जैसी अस्वीकार हो जाती है, अथवा उसके स्वीकार करनेमें भगवान्‌को संकोच होता है और भगवान्‌को संकोचमें डालकर अपनी बात मनवानेका आग्रह भक्तिके आदर्शके अनुकूल नहीं है; जैसा कि श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डके अन्तर्गत चित्रकूट-प्रसङ्गमें धर्म और प्रेमकी साक्षात् मूर्ति भरतके वचनोंमें स्पष्ट है—

'जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'

प्रार्थनामें माँगसे सम्बन्धित, भगवान्‌के कतिपय यश और गुणोंकी भी चर्चा साथ रहती है; पर प्रधानता माँगकी ही रहती है। उदाहरणके लिये जैसे—

'दीन दयालु बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'
मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहिं जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा॥

दीनहित बिरद पुराननि गायो।
आरत-बंधु, कृपालु, मृदुलचित, जानि सरन हौं आयो॥
तुम्हरे रिपु को अनुज बिभीषन, बंस निसाचर जायो।
सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को, मैं चरननि चित लायो॥
जानत प्रभु दुख सुख दासनि को, ताते कहि न सुनायो।
करि करुना भरि नयन बिलोकहु, तब जानौं अपनायो॥
× × × ×
नाथ जू अबकै मोहिं उबारो।
पतितन में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारो॥
× × × ×
प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहि करो॥
—इत्यादि।

इन उद्धरणोंमें माँगसे सम्बन्धित भगवान्‌के कतिपय यश और गुणोंकी चर्चा करते हुए प्रधानता माँगकी ही है। फिर भी इन उद्धरणोंमें तो माँग भी ऊँचे स्तरकी वही है जिसमें अपनी दुर्बलताओंको प्रकट करते हुए भगवान्‌की कृपा, शरणागति, भक्ति और प्रेमकी ओर आगे बढ़नेकी अभिरुचि आदि ही मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त लौकिक माँगें भी प्रार्थनामें होती हैं; जैसे शारीरिक-मानसिक कष्टकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना, धन और पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रार्थना, खेतीके लिये जल-वर्षाकी प्रार्थना, युद्धमें अपनी विजयके लिये प्रार्थना, विश्वशान्तिके लिये प्रार्थना इत्यादि। यह है प्रार्थनाका स्वरूप।

'स्तुति'में माँग होती भी है और नहीं भी होती। तात्पर्य यह कि स्तुतिमें प्रार्थनाकी तरह माँगका होना आवश्यक नहीं है। किंतु स्तुतियोंमें, जिन स्तुतियोंके साथ माँग होती भी है, उनमें भी भगवान्‌के यश और गुणोंका वर्णन अधिक और मुख्य होता है। माँगके सम्बन्धमें स्तुतिके बीच अथवा अन्तिम भागमें थोड़ा संकेतमात्र होता है। जैसे श्रीरामचरितमानस, बालकाण्डमें गौरूप पृथ्वी और देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी स्तुति। यथा—

सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर॥
जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥
—इत्यादि।

इस स्तुतिमें परिस्थितिके अनुसार यद्यपि रावणादि निशाचरोंका वध ही स्तुतिका मुख्य हेतु होनेसे उद्देश्यके रूपमें प्रधानता माँगकी ही है; फिर भी इसमें चार छन्दोंकी लंबी स्तुतिमें, विस्तार केवल भगवान्‌के गुण और ऐश्वर्यके वर्णनका ही पाया जाता है। माँगके सम्बन्धमें केवल बीचमें 'सो करउ अघारी चिंत हमारी,' 'द्रवउ सो श्रीभगवाना' और अन्तिम पंक्तिमें 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा'। बस, इतना ही संकेत मिलता है।

स्तुति प्रायः माँगके पूरी हो जानेपर भी होती है। उसमें प्रधानता भगवान्‌के यश और गुण-वर्णनकी ही रहती है; पर माँगके सम्बन्धमें, माँग पूरी हो जानेके लिये, स्तुतिके बीच अथवा अन्तमें धन्यवाद और कृतज्ञताके रूपमें कुछ शब्दोंका प्रयोग होता है; जैसे श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत, रावण-वधके पश्चात् देवराज इन्द्रके द्वारा की हुई भगवान् श्रीरामकी लंबी स्तुतिमें बीचमें इन्द्र कहते हैं—

यह दुष्ट मारेउ नाथ। भए देव सकल सनाथ॥
लंकेस अति बल गर्ब। किए बस्य सुर गंधर्ब॥
मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सब कें लाग॥
परद्रोह रत अति दुष्ट। पायो सो फलु पापिष्ट॥

रावण-वधके पश्चात् इन्द्रकी स्तुतिके साथ-ही-साथ उसी अवसरपर ब्रह्मा और शंकरजीके द्वारा भी भगवान् श्रीरामकी लंबी स्तुति पायी जाती है; पर उसमें माँगके सम्बन्धकी कोई विशेष चर्चा नहीं है। केवल यश और गुणोंका ही वर्णन है। कारण कि रावणादिके वधके लिये, माँगके सम्बन्धमें प्रधानता इन्द्रादि अन्य देवताओंकी थी। उनके लिये ही पूर्वमें ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति की थी।

रही लंबी स्तुतियोंमें अन्य कोई संसारी माँग न होते हुए भी भगवान्‌की भक्ति और उनके प्रति प्रेमकी याचना; यह

कोई माँग नहीं है। यह तो भक्तोंका स्वरूप है। माँगसे तात्पर्य, मुख्य रूपसे संसारी पदार्थोंकी माँग अथवा साधनामें निर्विघ्नताकी माँगसे ही होता है।

कभी-कभी किन्हीं विशेष अवसरोंपर भगवान्‌के गुण और स्वभावसे आकर्षित और आह्लादित होकर उनकी स्तुति करनेके लिये हृदय उत्साहित हो उठता है; उसमें भी कोई माँग न होकर भगवान्‌के गुणोंकी प्रशंसा ही होती है। जैसे धनुषयज्ञ-प्रसङ्गमें लक्ष्मण और परशुराम-संवादके पश्चात् अवतारके रूपमें पहचान लेनेपर परशुरामके द्वारा श्रीरामकी स्तुति—

जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी॥
बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥
सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥
—इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार प्रार्थना और स्तुतिका प्रयोग, किसी प्रकारकी माँग, माँग पूरी होनेपर धन्यवाद, अथवा किसी अवसरपर विशेष प्रशंसा करनेकी उत्सुकता आदि विशेष स्थितियोंमें होनेसे 'प्रार्थना' और 'स्तुति' प्रायः परिस्थितिजन्य ही हुआ करती हैं।

प्रार्थनामें अपनी माँगपर विशेष बल देनेके लिये श्रद्धा और प्रेमके वातावरणमें कभी-कभी भगवान्‌के प्रति उनके विरदके ही सहारे शिकायत भी होती है; जैसे—

काहे ते हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥
× × ×
खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ, तहँ हौं हूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान! परसत पनवारो फारो॥
कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।
जेहि करुना सुनि श्रवन दीन-दुख, धावत हौ तजि धाम॥
× × ×
एक एक रिपु ते त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु, कस न हरहु भव पीर॥
लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध, कुरुराज-बंधु खल मार।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख, भंजहु राम उदार॥
केसव! कारन कवन गोसाईं।
जेहि अपराध असाध जानि मोहिं, तजेउ अग्यकी नाइ॥
परम पुनीत संत कोमल-चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध, गनिकहि, तारेहु, कछु रही सगाई॥
× × ×
जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥
—इत्यादि

पर इस प्रकारकी शिकायत भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-विश्वास और प्रेमके वातावरणमें ही शोभित और उपयुक्त होती है; अन्यथा कुछ लोग अपनी तुकबन्दियोंकी कवितामें, लोगोंके समक्ष केवल मनोरंजन और कौतूहलके रूपमें अपनी चतुराई-का प्रदर्शन करते हुए भगवान्‌के प्रति इस तरह शिकायतके वाक्योंका प्रयोग करते हैं। वह सर्वथा अनुचित, कोरी धृष्टता और अनधिकार-चेष्टा है। सहृदय साधकोंको प्रार्थनामें इस बातके लिये भी सावधान रहना चाहिये।

ऊँचे स्तरकी भक्ति-भावनाकी स्थितिमें प्राप्त हो जानेपर तो भक्तजन अपने हितमें किसी प्रकारकी, संसारी माँगयुक्त प्रार्थनाको अपनेमें स्थान देना ही बंद कर देते हैं। वे भगवान्‌के प्रति संसारी माँगयुक्त कोई प्रार्थना करते ही नहीं; क्योंकि भक्तकी यथार्थ आवश्यकताको भगवान् स्वयं समझते और उसके लिये सतत सावधान रहते हैं, तब अपनी ओरसे किसी माँगके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता ही क्या है? ऐसी उनकी धारणा बन जाती है। फिर भी पराये दुःखको देख-कर द्रवीभूत हो जाना भक्तों और संतोंका स्वभाव ही हुआ करता है। यथा—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

अतएव यथासमय ऊँचे स्तरके संत और भक्त भी समाजकी अति आर्त और दीन-दशा देखकर लोक-कल्याणके लिये भगवान्‌के प्रति प्रार्थनाका रुख प्रायः अपना लेते हैं; और वस्तुतः उन्हींकी प्रार्थना यथार्थरूपमें सफल भी होती है। संतभक्त अपने लिये तो भगवान्‌के चिन्तनके सिवा और कुछ चाहते ही नहीं।

यहाँतक हुआ प्रार्थना और स्तुतिकी विभिन्न रूप-रेखाओंका स्पष्टीकरण।

अब बिना किसी विशेष प्रयोजन अथवा कामनाके, सतत ही भगवान्‌के गुणोंके स्मरण, कीर्तन और गानमें तो

भक्तोंकी स्वाभाविक अभिरुचि होती है और इससे भगवान्‌में स्वाभाविकरूपसे अनुराग और प्रेमकी ही वृद्धि होती है। यथा—

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥

× × ×

समुझि समुझि गुनग्राम रामके, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥

इस प्रकार स्वाभाविक गुणगानके उदाहरण, जैसे—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस, होत सदा यह रीती॥

× × ×

बिरद गरीबनिवाज रामको।
गावत बेद पुरान संभु सुक, प्रगट प्रभाव नाम को॥

× × ×

जो पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों, कत हठि बैर बिसहते॥

× × ×

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु, प्रनत-प्रतिपालक, पतित-पवन॥

× × ×

है नीको मेरो देवता, कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन, सुठि सुंदर स्याम॥

× × ×

ऐसी प्रीतिकी बलि जाउँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाउँ॥

× × ×

हरि सों ठाकुर और न जन कौ।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौ॥

भक्तोंमें इस प्रकार भगवान्‌के गुणगानमें स्वाभाविक प्रीति और अभिरुचिको श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत, स्वयं भगवान् रामचन्द्रके वाक्योंमें भक्तोंके मुख्य लक्षणके रूपमें व्यक्त किया गया है। यथा—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥

मानस, अयोध्याकाण्डके अन्तर्गत, वाल्मीकिजीने भगवान्‌के निवासके लिये १४ स्थानोंका वर्णन करते हुए इस प्रकार भगवान्‌के गुणोंके कीर्तन और चिन्तनमें अनुरक्त भक्तोंके सम्बन्धमें कहा है—

जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

इस दोहेमें प्रभुके यशको विमल मानसरोवर और उनके गुणगणको मुक्ताहल कहा है, जिन्हें जिह्वारूप हंसिनी चुगा करती है। अब यश और गुण, दोनों शब्द साधारण बोलचालमें लगभग पर्याय-जैसे ही प्रयोगमें आते हैं; जैसे भगवान्‌का यश-गान, अथवा भगवान्‌का गुण-गान—दोनों-का तात्पर्य व्यवहारमें एक-जैसा ही है। पर उक्त दोहेमें यशको मानसरोवरके स्थानमें और गुणगणको उस मानसरोवरमें प्राप्त होनेवाले मुक्ताहलके रूपमें कहा है; तो दोनों शब्दोंके प्रयोगमें तात्पर्यकी दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म, मार्मिक भेद अवश्य है।

अब इस भेदको जाननेके लिये यत्र-तत्र दोनों शब्दोंके प्रयोगपर अनुसंधान करनेपर बहुत ही स्पष्टरूपमें झलक यह मिलती है कि भगवान्‌के चरित्रोंमें जहाँ-जहाँ उनकी ओरसे जीवोंपर दया, कृपा, उपकार और संरक्षण-जैसे प्रसङ्ग आते हैं, जिनसे श्रोताओंके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा, विश्वास और महिमाका भाव जाग्रत् होता है, उन्हें 'यश' कहा गया है; और जिन प्रसङ्गोंमें भगवान्‌के विशेष शील-स्वभाव तथा भक्तों एवं आश्रितोंपर करुणा तथा प्रगाढ़ स्नेह और वात्सल्यकी ओर लक्ष्य होता है; और जिन प्रसङ्गोंको सुनते ही श्रोताओंका हृदय, उन प्रभुके प्रति प्रेम और अनुरागसे पुलकित और गद्‌गद हो उठता है; उन प्रसङ्गोंके अन्तर्गत, श्रोताओंपर इस प्रकार प्रेमोद्दीपनका प्रभाव डालनेवाली, भगवान्‌के शील-स्वभाव तथा भक्तोंपर प्रगाढ़ स्नेहसे सम्बन्धित विशेषताओंको 'गुण' कहा गया है। उदाहरणके लिये कुछ प्रसङ्ग दिये जाते हैं, जिनमें स्पष्टरूपसे इस बातका दिग्दर्शन किया जा सकता है।

अहल्योद्धारका प्रसङ्ग ही ले लीजिये। भगवान्‌ने अपने चरणोंके स्पर्शसे अहल्याको शापसे मुक्त कर उसे

पुनः अपने पतिको प्राप्त कराया; यह बात 'यश' के रूपमें ग्राह्य है। यथा—

'जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।'

साथ ही उसी प्रसङ्गमें अहल्याका उद्धार कर आगे बढ़नेपर भगवान् उसीके सम्बन्धमें उसे शापसे मुक्त करनेकी बातपर बिल्कुल ही ध्यान न देकर उल्टे अपने सम्बन्धमें किस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं ? यह बात विनय-पत्रिकाके एक पदकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें ध्यान देने योग्य है। यथा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल, सो नर खेहर खाउ ॥
× × ×
सिला साप संताप बिगत भइ, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ ॥

यही 'गुण' है। पछिताव यह कि 'हमने क्षत्रिय राजकुमार होकर एक ब्राह्मणी ऋषि-पत्नीको अपने चरणों-का स्पर्श करा दिया।' भगवान्‌के इस पछितावेको यद्यपि श्रीरामचरितमानसमें स्पष्टरूपसे नहीं कहा गया; पर उस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारकी वर्णनशैलीसे वह बात यहाँपर भी झलक जाती है। वह इस प्रकार कि जब राम-लक्ष्मण दोनों भाई अयोध्यासे विश्वामित्रजीके साथ चले; वहाँपर ग्रन्थकार 'हरषि चले' शब्द देते हैं। यथा—

पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन।

इसी प्रकार जब विश्वामित्रजीके आश्रमसे उनके साथ जनकपुरको चले, उस अवसरपर भी चलते समय 'हरषि चले' शब्द दिया है; यथा—

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा ॥

पर अहल्याका उद्धार करके आगे बढ़नेके अवसरपर 'हरषि चले' न कहकर केवल 'चले' शब्द दिया है; यथा—

चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जग पावनि गंगा ॥

जब कि गङ्गास्नान करके आगे चलनेके अवसरपर पुनः पहलेकी भाँति 'हरषि चले' शब्द ही दिया है। यथा—

हरषि चले मुनि बृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया ॥

इस प्रकार क्रमशः चार स्थलोंसे प्रस्थान करते हुए, तीन स्थलोंपर 'हरषि चले' और बीचमें अहल्योद्धार करके आगे बढ़नेके अवसरपर ही 'हरषि चले' न देकर केवल 'चले' शब्द देनेसे मार्मिकरूपसे यहाँपर भी यह बात झलक जाती है।

शबरीके प्रसङ्गमें देखिये—

जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि।
(यश)

साथ ही, विनयपत्रिकामें, उसी शबरीके सम्बन्धमें—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनि की, रुचि माधुरी न पाई ॥
(गुण)

इसी प्रकार विभीषणके प्रसङ्गमें—

रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
(यश)

साथ ही लंकाकाण्डके अन्तर्गत, राम-रावण-युद्धके अवसरपर जब रावणने विभीषणके लिये शक्तिका प्रहार किया था, उस प्रसङ्गमें—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा ॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला ॥
(गुण)

ऐसे ही जटायुके प्रसङ्गमें—

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥
(यश)

साथ ही उसी जटायुके प्रसङ्गमें, गीतावलीमें भगवान् श्रीरामके हृदयोद्गार उसी गीध जटायुके प्रति—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि, मनहुँ अरघ जल दीन्हो ॥
सुनहु लखन खगपतिहि मिले बन, मैं पितु मरन न जान्यो।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यो ॥
× × ×
मेरे जान तात! कछू दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन सेवा सुख, मोहिं पितु को सुख दीजै ॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग, बिधि मनाइ मँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ, दरस दै, लोग कृतारथ कीजै ॥
(गुण)

सामाजिक सदाचार और प्रार्थनाका प्रभाव

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी प्रेमी)

भारतवर्ष आरम्भसे ही सामाजिक सदाचार, आत्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक आनन्दको प्रमुख एवं भौतिक सुखको गौण माननेवाला देश रहा है। धर्म (सदाचार) आत्मा है और समाज उसका शरीर। परंतु भौतिकवादके इस युगमें आज समस्त विश्व ऐसी अनर्गल आशा-तृष्णाओंके दावानलमें अपनी आत्माको होम करता जा रहा है, जिसकी लपटोंसे हमारा देश भी नहीं बचा है। जब कि आज घोर आर्थिक विषमता, खाद्यान्नकी कठिन समस्या, दुःख-दारिद्र्य, व्यवसाय-व्यापारमें अनाचार, अधिकारियोंमें व्यापक भ्रष्टाचार, मुद्रा-स्फीति, भीषण कर-भार, चोरबाजारी, घूसखोरी, बेकारी, भुखमरी तथा कूटनीतिके भयानक सिर-दर्दके कारण जन-समुदाय संत्रस्त है, तो दूसरी ओर कतिपय लोग मोहवश आवश्यकतासे अधिक संग्रह करने, भोग-विलासमें लिप्त रहने और अधिक-से-अधिक ममताका विस्तार करनेमें लगे हैं। सच पूछा जाय, तो आज जन-समुदायके अधिकांश भाग—

> खरच बढ्यो, उद्यम घट्यो, नृपति न्यायसे हीन।
> कहु 'प्रेमी' कैसे जिये, थोड़े जलकी मीन॥

—में यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। आज जो संसार दुखी है, भौतिक विषमता फैली हुई है, विस्तारवादी और क्रूर मनोवृत्तिके तत्त्वोंके कारण युद्धके बादल मँडरा रहे हैं, एक राष्ट्र या एक गुट, दूसरे राष्ट्र या दूसरे गुटका विरोध कर रहे हैं, —ये सब विषयासक्ति और लोभ-वृत्तिके ही परिणाम हैं।

आज अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और संयमके साथ-ही-साथ सह-जीवनकी भावना भी धीरे-धीरे न्यून होती जा रही है। हर तरफ अपराध बढ़े जा रहे हैं। इस हालतमें कविकी यह माँग उचित ही है—

> जिस राह है खोफ़ोखतर, उस राहसे इन्सां न चल।
> जुर्मोगुनाहके बोझसे वरना गिरेगा सिरके बल॥
> छाई है जुल्मत हर तरफ़,अंधा न बन अब भी सम्हल।
> मुड़ दौड़ भाग आ इस तरफ ताकत अभी है पाँवमें॥
> आराम इज्जत जिंदगी सब है विभु (खुदा) की छाँवमें।
> जिंदगी उनकी जो हैं खिदमतें इन्सांकी चाव में॥

अतः अन्याय और अनाचारका त्याग करके हमें यथासम्भव शीघ्र ही उच्चादर्शोंकी चिरस्थायी रूपसे स्थापना करनी ही पड़ेगी। तभी न्याय और प्रेमका विस्तार होगा। शास्त्रकी दृष्टिमें व्यक्ति-व्यक्तिके स्वभाव या चरित्रका सुधार ही सामाजिक-सुधारका सहज उपाय है। इसके लिये सामाजिक अज्ञानताका उन्मूलन और सत्-शिक्षाके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प और नैतिक चरित्र-बलके साथ कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंका सामना वीरता, युक्ति, योग्यता और कर्मकुशलतापूर्वक—'तुम डाल-डाल, हम पात-पात'की गतिसे करनेपर हम अपनी, अपने परिवार, समाज, राष्ट्रके अतिरिक्त विश्वकी स्थितिको भी उत्तरोत्तर उत्तम बना सकते हैं। एक दूसरेके प्रति सद्-व्यवहार करनेसे, व्यवहार-कुशलतासे परस्पर स्नेह, संतोष, सद्भाव, उदारता और प्रसन्नताकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। प्रेमका उद्गम सज्जनता, सद्वर्तावसे होता है। दुष्टता और दुर्बुद्धिकी भावनाएँ मनमें रहें, तो किसीके प्रति सच्चा सुन्दर व्यवहार बन ही न पड़ेगा, तब प्रेमका उदय कैसे होगा ? कूटनीति और चतुरताके माध्यमसे जो नकली, बनावटी तथा मिथ्या शिष्टाचार बरता जाता है, वह देरतक किसीको भ्रममें नहीं रख सकता, उसकी कलई सहज ही खुल जाती है। किंतु जहाँ स्वाभाविक, सरल, सच्चे या निश्छल सौमनस्य या सद्भाव रहते हैं, वहाँ प्रेम, भ्रातृ-भाव एवं विश्वास स्वयमेव उत्पन्न होता है। जब कुछ व्यक्तियोंके बीच प्रेम और विश्वासका सम्बन्ध रहता है, तब वे आपसमें मित्र कहलाते हैं और ऐसे मित्रोंद्वारा दूसरेके प्रति बरते जानेवाले सद्व्यवहारसे जितना अधिक सुख मिलता है, उसकी तुलना दुनियाकी और किसी भी सुख-शान्तिसे नहीं हो सकती।

उन्नतिके साधन

आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रगतिका एकमात्र माध्यम सदाचार है। मनुष्यका भावना-स्तर ऊँचा होनेपर ही उसके द्वारा सत्कर्म बन सकते हैं। सत्कर्मोंके द्वारा ही शक्ति एवं प्रगतिके साधन सम्पन्न होते हैं। पुरुषार्थी और परिश्रमी लोग अपनी लगन और अध्यवसायके आधारपर उन्नतिके उच्च शिखरतक जा पहुँचते

हैं। पूरे परिश्रम, सच्चाई, ईमानदारी, परहितकामना तथा कार्य-कुशलतासे कमाया हुआ द्रव्य फूलता-फलता और स्थायी उन्नतिका आधार बनता है। पर, अनीति एवं बेईमानीसे दूसरेका स्वत्व मारकर जो कुछ कमाया गया है, वह नये-नये उपद्रव खड़े करता रहता है तथा अन्ततः शोक-संताप देता हुआ नष्ट हो जाता है। हमें यदि यह पता हो कि अमुक वस्तु अधिक अच्छी है और फिर भी हम उसे न अपनायें, तो हम एक बहुत बड़ा गलत काम कर रहे होंगे। प्रेम और दया अन्ततोगत्वा द्वेष और क्रूरताकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ शक्तिशाली है। धर्म अधर्मको जीत लेगा और सत्यकी असत्यपर विजय होगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके आन्दोलनके समय जनताको सम्बोधित कर श्रीगांधीजीने कहा था—

'तुम्हारे पास सब कुछ है, कौन कहता है तुम निर्बल हो, असहाय हो या तुम्हारे पास कुछ नहीं है, जबकि तुम्हारी आत्मा अजर-अमर है—तुम अजेय हो। किसीके अनुचित दबावको आश्रय न दो, अन्यायको मत सहो। सत्यकी प्राप्ति तथा रक्षाके लिये यदि आवश्यकता पड़े, तो प्राण भी दे दो।'

युग-धर्मके अनुरूप

आजकी विश्वव्यापी आपाधापी और घपलेबाजीको देखकर ऐसा लगता है कि जिस प्रकार अच्छे-से-अच्छे पालिशवाले, चमकते हुए इस्पातपर भी जंग चढ़ जाती है, आजके सभ्य-से-सभ्य समुदाय एवं देशपर भी जंगलीपन चढ़ गया है। अतः हमें चाहिये कि हम सांसारिक भोगैषणाके मिथ्या रागसे बचे रहने तथा सही रास्ता चुनने और उसपर चलनेके लिये शरीरको जलसे पवित्र, मनको सत्यसे निर्मल एकाग्र, बुद्धिको तेजसे परिपूर्ण और उसे आत्मामें नियोजित करके आत्मज्ञान और उसके माध्यमसे परमात्माका दिव्य प्रकाश प्राप्तकर तेजस्वी बनें, दुर्बलता त्यागें, अपने-आपको पहचानें और पतन तथा सर्वनाशसे विश्वको बचानेके लिये अपनी राष्ट्रीय सुरक्षाके लिये आधुनिक साधन-उपकरणोंसे भी अधिक अपनेमें नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करें। हम युगके अनुरूप सोचते चलें, पर अपनी आध्यात्मिक सच्ची विजयकी राहको कभी न छोड़ें। हम सबको सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य—शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक स्वस्थताका अध्यात्मके आधारपर तैयार करना है। इसीके साथ-ही-साथ प्राण-रक्षाके साधन खाद्य-पदार्थों एवं औद्योगिक साधनोंको, उत्पादन एवं न्यायोचितरूपसे आवश्यकतानुसार वितरण-व्यवस्थाको भी ठोस बनाना है, जिसमें सब लोग जीवन-रक्षाकी चिन्तासे निश्चिन्त हों, कठिन परिस्थितियोंका सामना और अपना सर्वांगीण विकास कर सकें।

× × × ×

आत्म-ज्ञान-विज्ञान

सच्चा ज्ञान तो आत्मज्ञान है। शिक्षाकी किसी भी उत्तम पद्धतिका उद्देश्य मनुष्यका संतुलित विकास होना चाहिये 'ज्ञान-विज्ञानसहितम्'। शिक्षा केवल बुद्धिको ही विकसित न करे, बल्कि मनुष्यकी आत्माको भी पवित्र और सौन्दर्य प्रदान करे। अध्यात्मके साथ विज्ञानका समन्वय कर सत्यका अनुसंधान करना एक ईश्वरीय कार्य है; क्योंकि ईश्वर ही सत्य है, प्रेमस्वरूप सत्यनारायण है। विज्ञान हमें इस बातकी ओर प्रेरित करता है कि हम प्रत्येक विषयमें प्रयोगसिद्ध और अनुभवगम्य दृष्टिकोण रक्खें। अनुभव केवल उपलब्ध ज्ञान अथवा अन्तरावलोकन (स्वाध्याय) के निर्दिष्ट सिद्धान्तोंतक ही सीमित नहीं है। अनुभव आध्यात्मिक और अभौतिक सृष्टिको भी बोधगम्य बनाता है और अनुभव ही सब धर्मोंका मूल तत्त्व है। प्राचीन उपनिषत्कारोंने कहा है—'जिससे सब ज्ञात हो सके वही विज्ञान है।' और आज हमारी अध्यात्म-विद्याके आधारोंपर ही वर्तमान विज्ञान अपना चमत्कार दिखला रहा है।

प्रेम ही परमेश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेमका अर्थ होता है—दो आत्माओंका अनन्तमें मिलन। एक दूसरेके प्रति समर्पण। सबसे बड़ा प्रकाश केवल प्रेम ही दे सकता है। जो कुछ भी यहाँ सद्गुणरूपमें पाया जाता है, वह प्रेममेंसे ही उत्पन्न होता है। तभी तो एक प्रेमोपासकका यह हृदयोद्गार है कि 'हे प्रभु! मुझे तू प्रेम प्रदान कर और वह भी केवल प्रेमके लिये।' आत्मिक प्रेमीके उन्मादकी कुछ क्षीण प्रतिध्वनि है। आत्मिक प्रेमी वे होते हैं, जो परमात्माके प्रेममें रँगकर पागल हो जाते हैं। वह मीठी मदिरा, जिसे प्रत्येक धर्मके महात्माओं और ऋषियोंने बनाया है, जिसे ईश्वरके अनन्य भक्तोंने अपना हृदय-रस घोल दिया है, जिनमें उन सब निःस्वार्थ प्रेमियोंकी आशाएँ बराबर उठ रही हैं, जिन्होंने सत्य-प्रेम पानेकी ही आशासे प्रेम किया था, उसी मीठी मदिराका प्याला ईश्वर (प्रेमास्पद) के प्रेमी पीना चाहते हैं। उन्हें प्रेम छोड़कर अन्य किस

वस्तुकी इच्छा नहीं। प्रेमका फल प्रेम है। पर, वह कैसा सुन्दर फल है। प्रेम ही एक वस्तु है, जो हमारे सब दुःखोंको दूर कर सकती है तथा प्रेमकी ही वह मदिरा है, जिसे पीनेसे इस संसारके सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

अन्तमें हम देखते हैं कि एक शाश्वत धर्मके अन्तर्गत जितने उपधर्म हैं, उन सभी उपधर्मोंका लक्ष्य केवल एक है—आत्मा और परमात्माका पूर्ण मिलन।

वैज्ञानिक प्रार्थना

सत्प्रेमरूपी परमात्मा या अदृश्य-शक्तिस्वरूप 'ॐ' नामका जाप, संकीर्तन, सत्संग, भजन और पूजन करनेके पूर्व 'भाव-शुद्धि' पर निरन्तर ध्यान रक्खें और अपनी मनोवृत्तिको पवित्र, एकाग्र एवं मनोबल ऊँचा रक्खें—

प्रार्थना और समाधिद्वारा यौगिक उपासनाका बड़ा महत्त्व है। इसकी सफलताके लिये मनोबल, चित्तकी एकाग्रता—जो अभ्यास एवं वैराग्यसे प्राप्त होती है—के साथ-ही-साथ लक्ष्य (आत्मा-परमात्माके दिव्यज्ञानालोक) की प्राप्तिमें मनका प्रोत्साहन (बुझे न दिलका दीया), मानसिक प्रसन्नता-संबल सिद्ध होता है। तभी तो कहा गया है कि—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् तनके राजा मनमें स्वस्थ (निर्दोष) एवं शुभ-संकल्पकी भावना निरन्तर रहना नितान्त आवश्यक है और इसमें कोई संदेह नहीं कि फूल, कली, उपवन, बुलबुल, प्रिय एवं प्रेमी—सबमें एक उसी दीपक (ब्रह्म) का प्रकाश है। उसके प्रति 'सोई परीति अनुराग बखानिये, जो तिल-तिल नूतन होई।' इस विषयमें प्रार्थना-प्रेमी गांधीजीकी विचार-धाराका निचोड़ कार्यान्वित करना परमावश्यक है—'(१) 'सत्य' जीवनका लक्ष्य, (२) 'संयम' जीवनकी पद्धति और (३) 'सेवा' जीवनका कार्य।'

तेज-युक्त 'ओम्'का अनन्यभावसे जाप और त्राटक (दृष्टिकेन्द्रित) करना अथवा उस अक्षरपर ध्यान जमाना सर्वोत्तम है; क्योंकि इस ध्यानके साथ जो प्रार्थना होती है, वही वैज्ञानिक प्रार्थना है। इस प्रार्थनामें किये हुए शुभ संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होते हैं। ऐसे आत्म-तेजवान् प्रेमी साधकके मुख-मण्डलपर एक विशेष प्रकारकी दिव्य ज्योति या आध्यात्मिक (तेजस् या ओज) रहता है और उसके शरीरसे आकर्षण-शक्तिकी सूक्ष्म तरङ्गें (Waves) निकलती रहती हैं। इसलिये जो भी व्यक्ति उसके पास आता है और जितनी देर उसके निकट रहता है, कम-से-कम उतनी देरके लिये तो अवश्य ही उसके प्रभावमें रहता है।

सती नारीकी सर्वापेक्षा मूल्यवान् सम्पत्ति

आठ सौ वर्ष पहलेकी घटना है। ११४० ईसवी शतीमें यूरोप-महादेशके जर्मनीके राजाने बेडन वार्टनबर्ग (Baden Wartenburg) नामक प्रदेशके किलेको बंद करके विजय प्राप्त की। तदनन्तर राजाने यह घोषणा की कि 'दुर्गमें बंद स्त्रियाँ अपनी पीठपर लादकर अपने स्वामीकी जो कुछ भी मूल्यवान् सम्पत्ति ले जा सकती हैं। इसमें कोई बाधा नहीं दी जायगी।'

पराजित छठे काउंट वेल्फ (Count Welf VI) की पत्नी अपने पतिदेवको कंधेपर लेकर बाहर निकली। उसे देखकर अन्य सब महिलाएँ भी कोई स्वामीको, कोई वृद्ध पिताको, कोई पुत्र या भाईको कंधेपर बैठाकर चल पड़ीं। किलेमें एक भी पुरुष या स्त्री नहीं रह गया। राजकर्मचारियोंने यह चतुराई देखकर उनको रोका और राजाको खबर दी। राजाने कहा—'कुछ भी हो, राजाका वचन अकाट्य है।' अतएव किसीको रोका नहीं गया।

प्राचीन कालके इस किलेको लोग 'Schloss weigart reve' कहते हैं। इसका अर्थ होता है—'नारी भक्ति और विश्वासकी प्रतीक।'

आज यह आदर्श कहाँ गया ! 'नारी मूल्यवान् सम्पत्ति ले जा सकती है'—यह राजाका आदेश था। काउंटपत्नीने पतिको ही सबकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति समझा। उसके सत्सङ्गके प्रभावसे अन्यान्य महिलाओंको भी सुबुद्धि उपजी। राजा भी धन्य हैं, जिन्होंने अपनी बातको कायम रक्खा।

(अमृतबाजार पत्रिका)
२-११-६४

गुरुवातपुरीश* श्रीकृष्ण परब्रह्मकी केशादि-पाद-वर्णनात्मक प्रार्थना

[श्रीमन्नारायण भट्टपाद-प्रणीत—सानुवाद संकलित सामग्री]

भारतके स्वनामधन्य कविवर्योंके महाकाव्योंमें भी पुराणों-जैसी कई प्रार्थनाएँ सुग्रन्थित मिलती हैं। दाक्षिणात्य केरल प्रदेशके सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी स्थित भक्तकवि श्रीमन्नारायण भट्टतिरिप्पाटका 'नारायणीयम्' ऐसा एक प्रसिद्ध काव्यरत्न है। जैसे भक्त-कवि सूरदासने भागवतके अनुरूप श्रुति-मधुर गेय हिंदी पद रचे थे, वैसे इन्होंने अपने इस काव्यमें उन्हीं बारहों स्कन्धोंका विषय, कुल १०३४ श्लोकात्मक शत-दशकोंमें प्रतिपादित किया है। उनके हर श्लोककी अर्थपुष्टि, कविता-माधुरी तथा सूत्रवद्भावगर्भ रचना-रीति किसी भी सहृदयको मुग्ध करनेमें समर्थ है। श्रीरामोपाख्यान, स्यमन्तक, अम्बरीष आदि विस्तृत विषयोपेत उपाख्यान भी इस काव्यमें एक-दो ही शतकोंमें सुसम्पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवतके स्कन्धोंकी तुलनामें इसकी ऐसी रचना-रीतिका विश्लेषण करनेपर श्रीभट्टतिरिप्पाटका कविता-कौशल बहुत कुछ अवगत हो सकता है। वैसे, इस भक्तिकाव्यमें, भागवतका प्रथमस्कन्ध-परिच्छेद प्रारम्भके तीन दशकोंमें, द्वितीयस्कन्ध-परिच्छेद चतुर्थपञ्चमषष्ठ सप्तम दशकोंमें, तृतीयस्कन्ध-परिच्छेद अष्टमसे लेकर पंद्रहवें तकमें, चतुर्थस्कन्ध-परिच्छेद सोलहवेंसे लेकर उन्नीसवें तकमें, पञ्चम, षष्ठ और सप्तमस्कन्ध-परिच्छेद दो-दो दशकोंमें, अष्टम छब्बीसवेंसे लेकर बत्तीसवें तकमें तथा नवम तेईसवेंसे लेकर छब्बीसवें दशकतकमें होता है। सैंतीसवेंसे नब्बे तकके दशकोंमें दशम-स्कन्धका विस्तार है। बादके सात दशकोंमें एकादश तथा अन्तिम तीन दशकोंमें द्वादश स्कन्धका परिच्छेद मिलता है। यहीं अन्तमें गुरुवातपुरीश श्रीकृष्ण परब्रह्मकी यह 'केशादि-पादवर्णनात्मक' प्रार्थना अन्तिम शततम दशक-रूपमें ग्रथित है।

इस भक्तिकाव्यके प्रणेता श्रीनारायण भट्टतिरिप्पाट केरलके नम्पूतिरि-ब्राह्मणकुलमें अवतीर्ण हो, केरलीय अष्टम शताब्दीमें (करीब १५५३ व १६२३ ई० के मध्य) प्रकाशमान रहे। उत्तर केरलके 'पेरुमनम्' गाँवके 'चन्दनक्काउु' नामक भगवती-मन्दिरके पड़ोसमें स्थित 'मेप्पत्तूर इल्लम्' नामसे प्रसिद्ध घरानेमें आपका जन्म हुआ था। इतर अनेक भक्त-कवियोंके प्रारम्भिक जीवनकी भाँति इनका जीवन भी अव्यवस्थित ही बीता; पर उचित समयपर इनपर भगवान्की कृपा बरस पड़ी और इन्हें सत्पथप्रदर्शक गुरुका साक्षात्कार हुआ। तदनन्तर अल्पकालमें ही ये कुलानुरूप सभी क्षेत्रोंमें पण्डितप्रवर हो चले। किंतु कृपासागर भगवान्ने मानो इन्हें अपनी असीम कृपाका पूर्णपात्र बना लेनेका उपाय ही किया हो, ये असह्य वातरोगसे पीड़ित हो गये। उनके रोग-बाधित होनेके कई कारण लौकिक विद्वान् मानते हैं; पर भगवान्की रीति कहीं निर्वचनीय हुआ करती है ? ऐसी रोग-बाधित दशामें श्रीनारायण भट्टतिरिप्पाट गुरुवातपुरीशके संनिधानमें ध्यानावस्थित हो 'नारायणीय-स्तव-गान'में निरन्तर लगे ही रहे और क्रमशः वे रोगमुक्त होते गये और अन्तमें श्रीकृष्ण-परब्रह्मके दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हुए। 'नारायणीयम्'के इस अन्तिम दशकमें, आत्मसाक्षात्कार-रूप उन्हीं श्रीकृष्ण-दर्शनोंका वे अपनी आँखों-देखा सुन्दर वर्णन करते हैं और संत-सहज स्वानुभूतिके लोक-हितार्थ विनियोग रूपकी प्रार्थना करते हैं—

'इदमिह कुरुतामायुरारोग्यसौख्यम्' (इदं स्तोत्रं अस्मासु परमायुः नीरोगतां ऐहिकामुष्मिकसौख्यं च उत्पादयतु।' अर्थात् यह स्तोत्र हमें दीर्घायु, परम आरोग्य तथा इह-परलोकमें सौख्य प्रदान करे)। शब्दपारखी विद्वानोंके शब्दोंमें, 'अत्र आयुरारोग्यसौख्यमित्यक्षरसंख्यया स्तोत्रनिर्माणावसानकलिदिनमपि सूचितं भवति; सा च संख्या १७१२२१० इति; तथा च त्रिषष्ठ्युत्तरसप्तशततमे (७६३) कोलम्बवर्षे वृश्चिकमासि अष्टाविंशतितमे (२८वें) दिवसे रविवारे स्तोत्रमेतत्समाप्तिमगादिति वेदितव्यम्।' (दे० कोणत्त् कृष्णवारियर्की बालबोधिनी व्याख्या)। अर्थात् अन्तिम 'आयुरारोग्यसौख्यम्' शब्द-समूह काव्यपूर्तिके कलिदिनका भी सूचक माना जाय, जो अङ्कगणना-विधानानुसार १७१२२१०वाँ कलिदिन माना जायगा। वह दिन कोल्लम् वर्ष (कैरळी संवत्सर) ७६३ के कार्तिक महीनेकी २८वीं तिथि माना जाता है। इस

---

* गुरुवातपुरीको साधारण व्यवहारमें 'गुरुवायूर' कहते हैं।

शब्द-समूहके सामान्य अर्थको प्रमाणित करते हुए यह स्तोत्र केरलमें बहुधा रोग-बाधितोंकी चिकित्साके अङ्गरूपमें प्रयुक्त हो वाञ्छित फलप्रद प्रशस्त है।

श्रीकृष्ण-केशादिपादवर्णन-स्तोत्र

अग्रे पश्यामि तेजो निबिडतरकलायावलीलोभनीयं
पीयूषाप्लावितोऽहं तदनु तदुदरे दिव्यकैशोरवेषम्।
तारुण्यारम्भरम्यं परमसुखरसास्वादरोमाञ्चिताङ्गै-
रावीतं नारदाद्यैर्विलसदुपनिषत्सुन्दरीमण्डलैश्च॥

भावार्थ—अहोभाग्य मेरा! अत्यन्त निबिड कलाय-कुसुममालाओंकी अपेक्षा भी अतीव आकर्षक भगवत्प्रभा-मण्डलको मैं अपने सामने देख रहा हूँ। लगता है कि मैं अत्र सर्वथा अमृत-सिक्त हो गया हूँ। उस प्रभामण्डलके बीचों-बीच कोई दिव्य किशोर आकृति दिखायी देने लगी है। नव-नवागत तारुण्यके कारण अति सुन्दर उस दैवी आकृतिके चारों ओर, उनके दर्शन-लब्ध ब्रह्मानन्द-रूपी अमृतास्वादनसे रोमाञ्चित नारदादि मुनीश्वर तथा उपनिषदोंकी साकार मूर्ति सुन्दर गोपिकाएँ भी शोभायमान हैं। अर्थात् मैं उन श्रीकृष्ण-परब्रह्मके दर्शनका अधिकारी हो गया हूँ, जो नारदादि मुनीश्वरोंके द्वारा उपदिष्ट गोपिकारूप उपनिषदोंके प्रतिपाद्य हैं।

नीलाभं कुञ्चिताग्रं घनममलतरं संयतं चारु भङ्ग्या
रत्नोत्तंसाभिरामं वलयितमुदयच्चन्द्रकैः पिच्छजालैः।
मन्दारस्रङ्निवीतं तव पृथुकबरीभारमालोकयेऽहं
स्निग्धश्वेतोर्ध्वपुण्ड्रामपि च सुललितां फालबालेन्दुवीथीम्॥

भावार्थ—ध्यानसे देखनेपर हे भगवन्! आपके उस दिव्य कैशोरवेषका केशादिपादान्त-दर्शन क्रमशः सम्भव होता है। ऊपर आपका सुन्दर केशभार सुलक्षित होता है। नीले घुँघराले वे निर्मल निबिड केशजाल सुसंयत हैं, रत्नजटित शिरोभूषणसे वलयित हैं, उज्ज्वल चन्द्रकों—मोरपंखकी आँखोंसे शोभायमान मयूरपिच्छोंसे युक्त हैं और देवतरु मन्दारके पुष्पोंकी मालासे सुबद्ध हैं, अतः अत्यन्त मनोहर हैं। उस सौन्दर्यको आँखभर देख लेता हूँ तो फिर कुछ नीचे, मनमोहक शुभ्र ऊर्ध्वपुण्ड्रसे सुशोभित, बालचन्द्राकार कोमल फालप्रदेशपर मेरी आँखें ठहर जाती हैं।

हृद्यं पूर्णानुकम्पार्णवमृदुलहरीचञ्चलभ्रूविलासै-
रानीलस्निग्धपक्ष्मावलिपरिलसितं नेत्रयुग्मं विभो! ते।
सान्द्रच्छायं विशालारुणकमलदलाकारमामुग्धतारं
कारुण्यालोकलीलाशिशिरितभुवनं क्षिप्यतां मय्यनाथे॥

भावार्थ—देखते-देखते मैं आपके करुणापूर्ण, अपने कारुण्यके प्रकाशसे ही तीनों लोकोंको सुख-शीतल करनेवाले नेत्रयुग्मोंके प्रति खिंचा रह जाता हूँ। असीम अनुकम्पा-रूपी समुद्रमें उठनेवाली मृदु-लहरियोंसे चञ्चल भ्रूविलाससे हृदयहारी आपकी आँखोंका सौन्दर्य स्नेहमसृण उन सुन्दर पक्ष्मावलियोंसे कितना बढ़ा हुआ मालूम होता है! अत्यन्त कान्तिपूर्ण, रक्त-पद्म-पत्राकार, मनमोहक तार-गोलोंसे सुन्दर उन दीर्घ नयनोंका कटाक्षपात, हे प्रभो! मुझ अशरणपर आप कृपया कर दें।

उत्तुङ्गोल्लासिनासं हरिमणिमुकुरप्रोल्लसद्गण्डपाली-
व्यालोलत्कर्णपाशाञ्चितमकरमणीकुण्डलद्वन्द्वदीप्तम्।
उन्मीलद्दन्तपङ्क्तिस्फुरदरुणतरच्छायबिम्बाधरान्तः-
प्रीतिप्रस्यन्दिमन्दस्मितमधुरतरं वक्त्रमुद्भासतां मे॥

भावार्थ—अब आपके मुखारविन्दके समग्र दर्शनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है। उन्नत सुन्दर नासिका तथा कर्ण-युगलसे लटकते हुए, प्रतिबिम्बित हो, इन्द्रनील-रत्नमय दर्पण-समान मनोहर गालोंपर डोलनेवाले रत्नजटित मकर-कुण्डलद्वयसे प्रकाशमान एवं कुछ-कुछ दीखनेवाली शुभ्र दन्त-पङ्क्तियोंसे मात्र अवगम्य और अत्यन्त लाल कान्तियुक्त बिम्बाफल-सम अधरसे व्यञ्जित प्रेमरस बरसानेवाले मन्दस्मितसे अति मधुर आपका वह मुख-कमल मेरे हृदयमें सर्वदा विराजमान रहे।

बाहुद्वन्द्वेन रत्नोज्ज्वलवलयभृता शोणपाणिप्रवाले-
नोपात्तां वेणुनालीं प्रसृतनखमयूखाङ्गुलीसङ्गशाराम्।
कृत्वा वक्त्रारविन्दे सुमधुरविकसद्रागमुद्भाव्यमानैः
शब्दब्रह्मामृतैस्त्वं शिशिरितभुवनैः सिञ्च मे कर्णवीथीम्॥

भावार्थ—हे श्रीकृष्ण! माणिक्य आदि रत्न-खचित अत्युज्ज्वल कङ्कणोंसे भूषित तथा प्रवाल-जैसे कुछ-कुछ लाल पाणिद्वयसे सुशोभित दोनों बाहुओंसे, अँगुलियाँ चलानेपर व्याप्त होनेवाली नखज्योतिसे नाना वर्णोंमें प्रकाशमान अपनी मुरली उठाकर अपने उस मनोहर वक्त्रारविन्दमें लगा लें और मुरली-वादनसे व्रज उठनेवाले अति मधुर रागालापोंसे सम्भाव्य तया त्रिलोकीको अपनी माधुरीसे शीतलता पहुँचाने-वाले शब्दब्रह्म-रूपी अमृतसे मुझ अनन्यशरणके श्रोत्रद्वारोंको सींचनेकी कृपा करें।

उत्सर्पत्कौस्तुभश्रीततिभिररुणितं कोमलं कण्ठदेशं
वक्षः श्रीवत्सरम्यं तरलतरसमुद्दीप्रहारप्रतानम् ।
नानावर्णप्रसूनावलिकिसलयिनीं वन्यमालां विलोल-
ल्लोलम्बां लम्बमानामुरसि तव तथा भावये रत्नमालाम् ॥

भावार्थ—ऊपरकी ओर फैलनेवाली अरुण कान्तिसे भरे कौस्तुभ दिव्य रत्नकी शोभासे रञ्जित आपके कोमल कण्ठ-प्रदेशके सुन्दर दर्शन अत्र मैं पा रहा हूँ। फिर आपके उस वक्षःस्थलका सौन्दर्य मेरी आँखोंके सामने छा रहा है, जो श्रीवत्स-चिह्नसे भूषित है और जिसपर उज्ज्वल मुक्तामालाएँ हिलती-डुलती शोभायमान हैं। हर फूलपर मँडराते रहनेवाले भ्रमरोंसे सुन्दर तथा रंग-विरंगे फूलों और पल्लवोंकी बनी मालाओंके साथ वनमाला और रत्नमालाको भी आपके विशाल वक्षःस्थल-पर विराजमान देख रहा हूँ।

अङ्गे पञ्चाङ्गरागैरतिशयविकसत्सौरभाकृष्टलोकं
लीनानेकत्रिलोकीविततिमपि कृशां बिभ्रतं मध्यवल्लीम् ।
शक्राश्मन्यस्ततप्तोज्ज्वलकनकनिभं पीतचेलं दधानं
ध्यायामो दीप्तरश्मिस्फुटमणिरशनाकिङ्किणीमण्डितं त्वाम् ॥

भावार्थ—अगुरु, कस्तूरी आदि पञ्च भिन्न वर्णोंके अङ्गरागोंके लेपनसे आपके अङ्गोंसे जो अलौकिक सौरभ निकल रहा है, उसके प्रति सारा ब्रह्माण्ड आकृष्ट हो रह जाता है। ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंके समूहको लीन किये रहनेपर भी आपका सुन्दर कटि-प्रदेश लतावत् कृश ही दीखता है। इन्द्रनील शिलापर अर्पित तप्तकाञ्चनके समान उज्ज्वल पीताम्बरको कान्तिपूर्ण एवं रत्नखचित किङ्किणियोंसे युक्त स्वर्णमय करधनीसे वेष्ठित आपके ऐसे अलंकृत रूपका हम अनवरत ध्यान करेंगे।

ऊरू चारू तवोरू घनमसृणरुचौ चित्तचोरौ रमाया
विश्वक्षोभं विशङ्क्य ध्रुवमनिशमुभौ पीतचेलावृताङ्गौ ।
आनम्राणां पुरस्तान्न्यसन धृतसमस्तार्थपालीसमुद्ग-
च्छायं जानुद्वयं चक्रमपृथुलमनोज्ञे च जङ्घे निषेवे ॥

भावार्थ—पुष्ट, कोमल और स्निग्ध कान्तिसे युक्त आपके महान् ऊरुद्वय, जो रमादेवीके हृदयाकर्षक हैं, इसी आशङ्का-से मानो सदा पीताम्बरावृत हैं कि कहीं उनके खुले रहनेपर उनके अपार सौन्दर्यसे आकृष्ट हो लोक क्षुब्ध न हो जाय। भवत्संनिधानमें आ अनन्यभावसे प्रणत होनेवाले भक्तोंके सामने खोलकर रखे हुए सकल पुरुषार्थ-कोश-जैसे आपके जानुद्वय तथा उन जानुओंके नीचे यथाक्रम मांसल होनेसे मनोहर आपकी दोनों जङ्घाओंकी सेवामें हम सदा लगे रहेंगे।

मञ्जीरं मञ्जुनादैरिव पदभजनं श्रेय इत्यालपन्तं
पादाग्रं भ्रान्तिमज्जत्प्रणतजनमनोमन्दरोद्धारकूर्मम् ।
उत्तुङ्गाताम्रराजन्नखरहिमकरज्योत्स्नया चाश्रितानां
संतापध्वान्तहन्त्रीं ततिमनुकलये मङ्गलामङ्गुलीनाम् ॥

भावार्थ—'भवत्पदभजनं श्रेयः'—आपके पादारविन्दोंकी सेवामें ही श्रेय है, सेवा करनेवाले ही श्रेयोवन्त हो सकेंगे'—यों मधुर नादमें घोषित करनेवाले आपके नूपुर-युगलोंका, आपके सामने प्रणत होनेवाले भक्तोंके भ्रमरूप समुद्रमें निमज्जित मनरूपी मन्दराचलके उद्धरणमें समर्थ कूर्मरूपी आपके पादाग्रद्वय तथा उन्नत एवं ताँबेके-से वर्णसे शोभमान नखोंरूपी बालचन्द्रोंकी चन्द्रिकासे आश्रित भक्तोंका संतापरूपी अन्धकार नाश करनेवाली मङ्गलमयी आपकी चरणाङ्गुलियोंके समूहका मैं पुनः-पुनः ध्यान करता हूँ।

योगीन्द्राणां त्वदङ्गेष्वधिकसुमधुरं मुक्तिभाजां निवासो
भक्तानां कामवर्षद्युतरुकिसलयं नाथ ! ते पादमूलम् ।
नित्यं चित्तस्थितं मे पवनपुरपते ! कृष्ण ! कारुण्यसिन्धो !
हृत्वा निःशेषतापान् प्रदिशतु परमानन्दसंदोहलक्ष्मीम् ॥

भावार्थ—हे श्रीगुरुवायुपुरनाथ ! करुणासागर ! सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! आपके सब अङ्गोंमें, योगीश्वरोंके लिये अत्यन्त मधुर, मुक्ति चाहनेवालोंके लिये निवासस्थान तथा भक्तोंपर सर्वाभीष्टोंकी वर्षा कर देनेमें समर्थ कल्पतरुपल्लव आपके ये पादमूल ही हैं। ये सदा मेरे मनमें स्थिरतया विराजमान रह, मुझे विवश करनेवाले तापत्रयोंका हरण कर, परमानन्द-प्रवाहका ऐश्वर्य प्रदान करते रहें।

इस प्रार्थनाके साथ 'नारायणीयम्' काव्यकी भी समाप्ति हो जाती है। किंतु इसके बादका अन्तिम श्लोक पर्याप्त महत्त्व रखता है।

साधारणतया ऐसी प्रार्थनाएँ सकाम भक्तोंके कामकी हुआ करती हैं। अतः इनके अन्तमें फलश्रुतिरूपमें कुछ कथन हुआ करता है। काव्यका यह अन्तिम श्लोक यद्यपि उसी रूपमें माना जा सकता है, तथापि भक्तकवि श्रीभट्टतिरिप्पाटने इसके द्वारा, भगवत्-प्रभाव-वर्णनमें कहीं अज्ञान आदि

प्रमादोंके कारण कोई अपराध हुआ हो तो तदर्थ क्षमा माँगते हुए, अपनी इस कृतिको भगवदर्पित भी कर दिया है।

अज्ञात्वा ते महत्त्वं यदिह निगदितं विश्वनाथ! क्षमेथाः
स्तोत्रं चैतत् सहस्रोत्तरमधिकतरं त्वत्प्रसादाय भूयात्।
द्वेधा नारायणीयं श्रुतिषु च जनुषा स्तुत्यतावर्णनेन
स्फीतं लीलावतारैरिदमिह कुरुतामायुरारोग्यसौख्यम्॥

भावार्थ—हे जगन्नाथ! इस प्रकार मैंने आपके महत्त्वके पूर्ण ज्ञानके अभावमें भी, अपनी मन्दबुद्धिसे आपकी लीला आदिका जो अंड बंड वर्णन किया है, तज्जनित अपराधकी क्षमा हो। एक हजारसे कुछ अधिक (१०३४) स्तोत्रोंका यह ग्रन्थ आपके अनुग्रहार्थ अर्पित है। वेद तथा स्मृति-पुराणोंमें स्तोतव्यरूपमें प्रतिपादित आपके लीलावतारोंके वर्णनोंसे पूर्ण यह काव्य, आप श्रीमन्नारायणके माहात्म्य-कथनके कारण ही नहीं, 'नारायण' नामक इस प्रार्थीद्वारा विरचित होनेके भी कारण दोनों अर्थोंमें 'नारायणीयम्' नामसे प्रथित हो इहलोकस्थ सब लोगोंको 'आयुरारोग्यसौख्य' प्रदान करनेवाला रहे।

॥ इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

वैराग्य-पुञ्ज पुरन्दरदास

(लेखक—श्रीअनन्त कमलनाथ 'पंकज')

लगभग चार सौ वर्ष पूर्वकी बात है—

राजा कृष्णदेवरायके कालमें विजयनगर साम्राज्य वैभवके शिखरपर था। उस समयके राजगुरु योगी व्यासराय और कन्नडके 'दासश्रेष्ठ' संत पुरन्दरदास विजयनगरमें ही निवास कर रहे थे। एक बार बातों-ही-बातोंमें राजगुरु व्यासरायने कृष्णदेवरायसे संत पुरन्दरदासकी प्रशंसा करते हुए कहा कि 'पुरन्दरदास-सा वैरागी पुरुष शायद ही इस संसारमें कोई हो।' इस बातको सुनकर राजाने मन-ही-मन पुरन्दरदासके वैराग्यकी परीक्षा लेनेकी ठानी।

संत पुरन्दरदास हाथमें झोली लिये, भगवान्‌का कीर्तन करते हुए नगरमें भिक्षाटन करते और जो कुछ मिलता, उससे अपना एवं अपने परिवारका पेट पालते। एक दिन जब वे राजमहलके पाससे जा रहे थे, तब राज-परिवारवालोंने उन्हें बुलाकर उनकी झोलीमें मुट्ठी-भर हीरे डाल दिये, जिन्हें पुरन्दरदासजीने संतोषपूर्वक स्वीकार किया।

दो-तीन दिनतक यही सिलसिला चलता रहा। हीरोंको बिना किसी उपेक्षासे स्वीकार करते देख राजाको मन-ही-मन अपनी विजयपर प्रसन्नता हुई। उन्होंने व्यासरायसे कहा—'पुरन्दरदासके बारेमें आप की जो धारणा है, वह भ्रमपूर्ण है। मैं आपको यह प्रमाणित कर दिखाऊँगा कि पुरन्दरदासका वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं है।'

इस बातकी वास्तविकताको जाननेके हेतु राजा और व्यासराय दोनों नगरसे बाहर पुरन्दरदासकी कुटियापर गये। दासजी घरमें नहीं थे। उनकी पत्नी सरस्वती द्वारके पास बैठी सूपमें चावलके दाने लिये उन्हें स्वच्छ कर रही थी। व्यासरायने सरस्वतीसे पूछा—

'बेटी! क्या अबतक भोजन तैयार नहीं हुआ है? दास भी कहीं दिखायी नहीं देते।'

'वे अभी बाहर गये हैं। भोजनकी तैयारीमें दो-तीन दिनसे विलंब हो रहा है। कारण कोई पुण्यात्मा उनकी झोलीमें कंकर-पत्थर डाल रहा है। दासजी कहते हैं कि इन कंकर-पत्थरोंको वे इसलिये ले लेते हैं कि कहीं देनेवालेका दिल न दुखे। पर उन्हें चुनते-चुनते देर हो जाती है।'

'कंकर-पत्थर?—वे तो यहाँ दिखायी नहीं देते?'

'उन्हें चुनकर अभी मैं उस पेड़के नीचे कूड़ेमें फेंक आयी हूँ।'

सरस्वतीकी बात सुनकर व्यासराय एवं कृष्णदेवराय पेड़के नीचे पड़े कूड़ेकी ओर गये। वहाँपर कूड़ेके साथ अनेक हीरे पड़े हुए थे। उन्हें देखकर व्यासरायके ओठोंपर हलकी मुस्कान फैल गयी। कृष्णदेवरायका सिर लज्जासे झुक गया और वे संत पुरन्दरदासकी वैराग्य-प्रवृत्तिसे बड़े प्रभावित हुए।

भगवान्‌से बातचीत करनेका समय व्यर्थ बरबाद न करें

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्०ए०, पी-एच्० डी०, मानसशास्त्रविशेषज्ञ)

क्या मनुष्य ईश्वरसे बातचीत कर सकता है? क्या परमपितातक हमें अपना संदेश, मनकी व्यथा, प्रार्थना या विनय पहुँचानेका कोई विशेष समय नियत है? क्या दुनियावालोंकी फरियाद सुननेका कोई खास वक्त है?

ये प्रश्न आपके मनमें उठते रहते हैं।

आप किसी बड़े अफसर या उच्च अधिकारीसे मिलने जाते हैं तो पहले यह मालूम करते हैं कि उनके मिलने या बाहरवालोंसे बातचीत करनेका क्या समय है? उनको खाली समय कब मिलता है? वे आपकी व्यक्तिगत समस्याओंको सुननेके लिये कितना और कब समय दे सकते हैं!

जब आपको वे उच्च अधिकारी निश्चित समय दे देते हैं, तब आप उनसे मुलाकात करने जाते हैं। आपको सदा यह डर रहता है कि कहीं समयसे पहले या पीछे न पहुँचें। कहीं ऐसा न हो कि हमारी इन्टरव्यूका समय ही निकल जाय। किसी अन्य व्यक्तिको हमारे बाँटेका समय दे दिया जाय अथवा एक बार ठीक समयपर न जानेसे अफसर महोदय रुष्ट होकर फिर कभी मिलनेका समय ही न दें।

अतः आप मिलनेके लिये दो-चार मिनट पहले ही गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं। सदा समयकी पाबंदीका ध्यान रखते हैं और जब आपका निर्धारित समय आता है, तो उनसे मिलकर अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते हैं।

अधिकारी महोदयसे आप अपने मनकी सब बातें जल्दी-जल्दी कहते जाते हैं। कोई भी गुप्त बात नहीं छिपाना चाहते। कम-से-कम चुने हुए शब्दोंमें अपनी समस्याएँ समझाकर मनको हलका कर लेना चाहते हैं। आपकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि अपने समयका पूरा-पूरा लाभ उठावें। कुछ भी बात अवशेष रह न जाय।

यही तथ्य ईश्वरसे मिलने और बातें करनेके समयके विषयमें भी सत्य है। भगवान्‌के पास अपनी फरियाद, समस्याएँ और विनती सुनानेवाले व्यक्ति हजारों हैं, प्रतिक्षण भरा हुआ है। किंतु उनकी असीम करुणा देखिये, वे बातें सबकी सुनते हैं। सबको वक्त देते हैं। किसीको कभी निराश नहीं करते; किसीसे भी उनका पक्षपात नहीं है। हम भी उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और अपनी करुण वेदना तथा हार्दिक प्रार्थना उनतक पहुँचा सकते हैं। यों तो ईश्वरसे किसी भी समय सम्पर्क किया जा सकता है; क्योंकि वे सदा सर्वत्र हैं और उनसे हमारा नित्य-निरन्तर सम्बन्ध है, तथापि उनके मिलने और बातें करनेका एक बड़ा सुन्दर समय नियत है।

बस, उस समय हम उनसे मिलकर अपनी व्यथा कह सकते हैं। वह समय हमारे लिये है।

हमारी आत्मा परमात्माका ही एक अंश है। जब वह परमशुद्ध और सांसारिकतासे ऊँची उठती जाती है, तो उसका सीधा सम्बन्ध ईश्वरसे हो जाता है। सृष्टिमें अलक्षित ईश्वर तत्त्व (ईथर) भरा हुआ है। इसी तत्त्वके माध्यम (Medium) से हमारे दृढ़ विचारोंकी सूक्ष्म तरङ्गें दूर-दूरतक फैलती हैं और बेतारके तारकी तरह करोड़ों मील दूरतक हमारा संदेश पहुँचाती हैं। हम जितने आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्पसे अपने विचार ईश्वरतत्त्वमें फेंकते हैं, वे उतनी जल्दी सीधे ईश्वरतक पहुँचते हैं और हमारी आत्मा उनका उत्तर भी सुनती है।

तेजोमय ईश्वर (ईश्वरका वातावरण)

प्रसिद्ध लेखिका ओ हष्णुहाराने अपनी पुस्तक 'एकाग्रता और व्यक्तिगत चुम्बककी प्राप्ति' में वातावरणमें भरे हुए ईश्वररूपी तत्त्वका विश्लेषण किया है। वे लिखती हैं—

'ईश्वरत्व (जिसे विज्ञानकी भाषामें ईथर कहते हैं) आकाश या नभसे सारे अन्तरिक्षमें भरा हुआ है। यह आकाश हमारे शरीरमें भी व्याप्त है। इसमें हमारे मस्तिष्कका

आत्माके माध्यमसे सृष्टिके आदिसंचालक ईश्वरसे सम्बन्ध स्थापित होता है। सशक्त विचारोंको एकाग्रतापूर्वक हम ईश्वरतक अवश्य भेज सकते हैं और उनका दिव्य संदेश भी प्राप्त कर सकते हैं। यदि विचारोंमें संदेह हो या वे कमजोर हों, तो वे नीचे ही वायुमण्डलमें दबकर रह जाते हैं। पर यदि वे मजबूत मस्तिष्कसे फेंके जायँ, तो दूर-दूर पहुँच जाते हैं। जितने घंटे दूसरे लोग सोये रहते हैं, वायुमण्डलमें कम विचार रहते हैं। वह साफ रहता है। उस समय फेंके हुए पुष्ट विचार ईथर (आकाश) में बड़ी तीव्र गतिसे दूरस्थ स्थानोंतक पहुँचते हैं।

कहा जाता है कि प्रातःकालमें देखा हुआ स्वप्न प्रायः सच हो जाता है। इसका कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिकों-ने खोजकर निकाला है।

वे कहते हैं कि सुबहका आकाशरूपी पदार्थ परम स्वच्छ और निर्मल होता है। उसमें हमारे सशक्त विचारोंकी लहरें तेजीसे चलती हैं। दूसरे व्यक्तिका मस्तिष्क जो एक सशक्त और सचेतन रिसीवर (Receiver) है, वह उन विचारोंकी लहरोंको आसानीसे ग्रहण कर लेता है और वह बात ज्यों-की-त्यों सच हो जाती है। अन्तरिक्षका स्वच्छ और ग्रहणशील होना तथा विचारोंकी पुष्टता ही सुबहके स्वप्नोंको सत्य बनाती है। सुबहको हमारा मस्तिष्करूपी डायनमो तेजीसे कार्य करता रहता है। उस समय दिमागमें सारी रातकी शक्ति इकट्ठी हो जाती है। उस समय उससे जो विचाररूपी तरङ्गें निकलती हैं, वे प्रचण्ड शक्तिसे दूर-दूरतक जाती हैं। इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क और आत्मासे निकलनेवाले विचार इसी प्रकार तेजीसे फैलते हैं, जैसे शक्तिके केन्द्र-स्थान सूर्यसे प्रकाशकी तीखी किरणें फैला करती हैं।

परमात्मासे बातचीत करनेका यह समय है

हिंदू-तत्त्ववेत्ताओंने भगवान्से बातचीत करनेका समय ब्राह्ममुहूर्त बताया है। प्रातःकालके समयको ईश्वरकी पूजा-पाठ, प्रार्थना, आराधना, ब्रह्म-चिन्तन, यज्ञ, अध्ययन और शुभ कार्योंके लिये सर्वोत्तम समय बताया गया है। इसे ब्राह्ममुहूर्त कहा गया है—'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत, (मनु)

हमारे ऋषियोंने इसे 'मधुमय समय' कहकर इसकी मधुरताका संकेत किया है। यह वह बढ़िया समय है जब प्रकृतिमें सर्वत्र मधु-ही-मधु बिखरा रहता है। प्रकृति माता अमृत-ही-अमृत बरसाती रहती है। शास्त्रोंमें इसे 'ब्रह्मवेला' कहा है।

हम इस कालमें क्या करें ?

मनु कहते हैं—'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।'

अर्थात् 'हे भद्र पुरुषो! ब्राह्ममुहूर्तमें बिस्तर छोड़ पवित्र और स्वच्छ हो धर्म, अर्थ, मोक्ष इत्यादिके उच्च विचार किया करो।'

इस कालमें धर्मकार्य करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। धार्मिक अनुष्ठानोंके लिये यह सर्वश्रेष्ठ समय है।

ब्राह्ममुहूर्त (प्रातः चारसे साढ़े पाँच बजेतकका समय) की सुखद, शीतल, परम आनन्ददायक, स्वास्थ्य-यौवनवर्द्धक शीतल समीरमें कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्व भरे पड़े हैं, जिनसे मनुष्यके शरीरपर स्वास्थ्यवर्द्धक प्रभाव पड़ता है। इस दिव्य कालमें पूजन, चिन्तन, सद्ग्रन्थवाचन, एकाग्रता, जप, आराधना करनेसे सारे दिन मनुष्यकी आत्मा प्रसन्न रहती है। आध्यात्मिक शक्ति साथ रहती है। सिद्धियाँ-ही-सिद्धियाँ मिलती जाती हैं।

इस ब्रह्मवेलामें प्रकृति अपने सौन्दर्यका थाल सजाती है। वृक्ष-पौधे, पुष्प, नवयौवन, नव-प्राण पा थिरकते हैं। नयी प्राणु-वायु फेंकते हैं जो जीवमात्रकी आयुका बर्द्धन करने-वाली है। स्फूर्तिदायक, शीतल, मंद समीर चलता है। चिड़ियाँ चहकती हैं। मुर्गेकी ध्वनि ईश्वरकी ओरसे आनेवाला संकेत है जो यह कहता है दिनभरमें दिनका यौवन, बस, यही कल्याणकारी श्रेष्ठ फलदायक समय है।

तनिक बाहर प्रकृतिकी फुलवारीमें आइये।

देखिये—सब पुष्प, वृक्ष, पत्तियाँ, लताएँ और नव-विकसित कलिकाएँ मधुरतासे मुस्करा रही हैं। प्रकृति अपने मादकरूपमें स्थित है। प्रकृतिके सहचर बड़े तड़के उठनेके अभ्यस्त हैं। चिड़ियाँ थिरक-थिरककर अपनी मधुर तान छेड़ रही हैं। वृक्षोंकी पत्तियाँ यौवन-विभोर हो हिल रही हैं। गौएँ रँभा रही हैं। प्रभातकालीन आकाशके सितारे जैसे मधुरतासे मुसकरा रहे हैं। नया जीवन पाकर समस्त वातावरण शुभ्र हो उठा है। प्रकृतिकी विशाल गोदमें खेत लहलहा रहे हैं। एक मीठी सुगन्ध सबको मदमस्त कर रही है। प्रातःकी प्राण-वायु (आक्सीजन) फेफड़ों और सारे शरीरमें नवजीवन भर रही है।

ब्राह्ममुहूर्तका लक्षण

सबसे पवित्र समय, ईश्वरसे बातचीत करनेका समय जिसे ऋषियोंने ब्राह्ममुहूर्त कहा है प्रातःकाल चार बजेसे

साढ़े पाँच बजेतक आता है। ब्रह्मवेलामें ईश्वर खुले हाथ समस्त प्रकृति तथा जीवोंको स्वास्थ्य, सुख, सौन्दर्य, यौवन, धर्म, बुद्धि, विवेक और स्फूर्ति बाँटते हैं।

ब्रह्मवेलामें जो जागते हैं, वे इन दिव्य दैवी सम्पदाओंको आसानीसे पा लेते हैं; पर जो मूर्ख आलस्य या प्रमादवश शय्यापर सोते ऊँघते रह जाते हैं, वे राक्षस-जैसे दीन-हीन आलसी बने रहते हैं। सारा दिन आलस्यमें ही काटते हैं।

ब्राह्ममुहूर्तके लक्षण हमारे धर्मशास्त्रोंमें इस प्रकार वर्णित हैं—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने॥

अर्थात् रात्रिके अन्तिम प्रहरका जो तीसरा भाग है, उसको ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। यह अमृतवेला है। सोकर उठ जाने और भजन-पूजन इत्यादि सत्कर्मोंके लिये यही समय शास्त्रानुकूल है।

'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थमें मनुष्यके स्वास्थ्य और दीर्घजीवनके अनुभूत उपाय बताये गये हैं। इसमें एक स्थानपर लिखा गया है—

उत्तम स्वास्थ्य और मानसिक शान्तिके लिये, शुभ विचारोंकी प्राप्तिके लिये मनुष्य चार घड़ी तड़के अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग दे। उस समय दुःखकी निवृत्ति और शान्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक ईश्वरका स्मरण करे।

फिर दही, घी, दर्पण, सफेद सरसों, बैल, गोरोचन और फूलमाला आदिका दर्शन करे। उनका स्पर्श करे। ये शुभ मङ्गलदायी कार्य हैं।

भगवान् मनुने लिखा है—"प्रातःकाल देरतक सोना पुण्यों और संचित सत्कर्मोंका नाश करनेवाला है, इसलिये आलस्यवश जो द्विज प्रातः जल्दी न उठे उसे पादकृच्छ्र नामक व्रत करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

श्रीवाल्मीकि-रामायणमें ब्राह्ममुहूर्तका हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है। भगवती सीताजीकी खोज करते-करते महावीर हनुमान्जी अशोकवाटिकामें पहुँचते हैं। कवि-शिरोमणि वाल्मीकि ब्राह्ममुहूर्तका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

विचिन्वतश्च वैदेहीं किंचिच्छेषा निशाभवत्॥
षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

अर्थात्—इस प्रकार श्रीमाता सीताजीकी खोज करते-करते रात्रि थोड़ी-सी अवशेष रह गयी। तब महावीर हनुमान्जीने ब्राह्ममुहूर्तमें वेदज्ञ और याज्ञिक विद्वानों तथा ऋषियोंद्वारा किये जानेवाले भव्य पाठका श्रवण किया।

सुबह सोनेवाले दरिद्री होते हैं

चाणक्यनीतिमें ब्राह्ममुहूर्तके समयके सदुपयोगके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

'सूर्योदयके समयको सोकर व्यर्थ बरबाद करनेवालेको, चाहे वह चक्रधारी विष्णु ही क्यों न हो; लक्ष्मी, विद्या, बुद्धि सब छोड़ जाते हैं। वह व्यक्ति एक-न-एक दिन दरिद्री हो जाता है।'

संसारके प्रायः सभी उच्च कोटिके साधक, बड़े-बड़े विद्वान् और दीर्घजीवी मनुष्य सूर्योदयसे पूर्व ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शुभ चिन्तनके अभ्यस्त रहे हैं।

बालसूर्यकी परम स्वास्थ्यकारी किरणोंको शरीरपर लेनेसे, प्रतिदिन सूर्यनारायणको अर्घ्य देनेसे, दर्शन करनेसे बड़ा पुण्य-लाभ होता है। स्वास्थ्य और वीर्य बढ़ता है। नेत्र-ज्योति उद्दीप्त होती है। मन प्रसन्न रहता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वास्थ्यरक्षार्थं मानुषः।
तत्र दुःखस्य शान्त्यर्थं स्मरेद्धि मधुसूदनम्॥

अर्थात् स्वास्थ्य बढ़ानेके लिये केवल ब्राह्ममुहूर्त ही मनुष्यके लिये अति उपकारी है। स्वस्थ मनुष्यको चाहिये कि वह अपने स्वास्थ्य, यौवन, वीर्य, बुद्धि आदिकी रक्षाके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें सोकर उठ जाय और दुःख-नाश तथा (प्रसन्नतालाभ-शान्ति) के लिये भगवान्का भजन, पूजन, कीर्तन, पूजापाठसे दिन प्रारम्भ करे।

शय्यापर दिन निकले पड़े रहनेसे मनमें अनेक प्रकारके कुविचार तूफान मचाने लगते हैं और आलसी बना देते हैं। क्षुद्र कामवासनाएँ प्रायः उन व्यक्तियोंको सताती हैं, जो रात्रिमें बारह-एक बजे सोनेकी बुरी आदत बना लेते हैं। आलस्यमें हम ज्यों-ज्यों फँसते हैं, यह दुष्ट त्यों-त्यों हमें अधिकाधिक सताता है।

लोगोंका कहना है 'कि हम बड़े तड़के उठना चाहते हैं, बड़ी इच्छा होती है, पर हमारी तामसिक वृत्तियाँ हमें विस्तरपर पड़े रहनेको दबाती हैं। तबियत करती है कि कुछ देर और नींदका मजा लें। हम क्या उपाय करें?'

हमारा सुझाव है कि आप तुरंत उठ जाइये। तनिक भी न सोचिये, न कुछ देर पड़े रहनेका मोह कीजिये।

एक बार संकल्प कर उठ गये, तो उठ गये । निद्राको तोड़ना ही सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। फिर तो एक नयी आदतका निर्माण हो जायगा ।

ब्राह्ममुहूर्तमें हमारी आत्मा बलवती रहती है । हम ईश्वरतक अपना जो भी संदेश हो, पहुँचा सकते हैं । उनका संकेत भी पा सकते हैं। इसी ब्रह्मवेलामें भगवान्‌से सीधे बातचीत हो सकती है—

'भैषज्यसार' नामक पुस्तक (पृष्ठ ९३) में लिखा है—

'ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शुभ कार्य करनेवाला पुरुष सौन्दर्य, लक्ष्मी, स्वास्थ्य, आयु आदि वस्तुओंको सरलतासे प्राप्त कर लेता है । उसकी आत्मा पवित्र और शरीर कमलके समान सुन्दर हो जाता है ।'

ब्राह्ममुहूर्त साधनाका सबसे अच्छा समय है । स्वामी शिवानन्दजी महाराज लिखते हैं—

'ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर ध्यानका अभ्यास कीजिये । किसी हालतमें इसको मत त्यागिये । यह समय ध्यान और चिन्तनके लिये बड़ा ही अनुकूल है।'

नींदके बाद मन ताजा रहता है । वह शान्त और सजग रहता है । इस समय मनमें सत्त्वगुणोंकी प्रधानता रहती है । आसपासके वातावरणमें भी सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है ।

ब्रह्मवेलामें मन सापेक्षतः कोरे कागजकी तरह स्वच्छ रहता है । उसपर दुष्ट सांसारिक कुसंस्कार नहीं रहते । राग-द्वेषकी धाराएँ मनमें नहीं घुसी होतीं ।

इस समय आप मनको इच्छानुसार जैसा चाहें, सुगमतापूर्वक बना सकते हैं । मनमें स्वाध्याय और ब्रह्मचिन्तनद्वारा नये और उत्तम संस्कार उत्पन्न करनेका यही श्रेष्ठ समय है । आप इस समय सुगमतापूर्वक मनको दिव्य विचारोंसे परिपूर्ण कर उन्नतिशील जीवन व्यतीत कर सकते हैं । सारे योगी, परमहंस, संन्यासी, साधक और हिमालयके ऋषिगण इसी समय अपना ध्यान प्रारम्भ करते हैं तथा ईश्वरसे सीधे बातचीत करते हैं ।

सांसारिक व्यक्तियोंको शौचादिसे निवृत्त होकर पूजा करनी चाहिये । फिर घूमने जाना चाहिये । स्वाध्याय और लेखनके कार्य होने चाहिये । पवित्र श्लोकोंका पाठ, गायत्री-जाप, ॐ नाम-कीर्तन, भजन गानेसे सारे दिन आपकी आत्मा सशक्त बनी रहेगी । हर कार्यमें ईश्वरकी शक्ति साथ रहेगी और सफलता मिलती चलेगी ।

न स्वपेद् भास्करोदये । (म० भा० शा० प० १९१ । ५)

सूर्य उदय हो जानेपर सोये नहीं रहना चाहिये ।

द्वादशाक्षर नाम-मन्त्रका प्रभाव

यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ।

(श्रीमद्भागवत ४ । ८ । ५३)

श्रीमद्भागवतमें ध्रुवजीको साधनानुष्ठान बतलाते हुए देवर्षि नारदजीने द्वादशाक्षर मन्त्र [**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**] का यह प्रभाव बतलाया है, जो ऊपर कहा गया है ।

'सप्तरात्रं प्रपठन्' केवल इतना अंश ध्यान देनेयोग्य है । सात रात्रिका अर्थ यहाँ सात दिन-रात अखण्ड होता है और 'प्रपठन्' का अर्थ है कि बोला जाय स्पष्ट स्वरमें । उपांशु या मानसिक जपकी बात नहीं कही गयी है।

इसका तात्पर्य यह है कि इस अनुष्ठानमें न कोई विशेष विधि है और न विशेष अधिकारी । प्रत्येक जाति, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक देशके स्त्री-पुरुष इसे कर सकते हैं । कहीं भी यह अनुष्ठान किया जा सकता है और किसी भी दशामें किया जा सकता है । कलश-स्थापन-पूजन, हवन आदि कोई विधि आवश्यक नहीं है ।

विधि इतनी ही है कि सात दिन-रात अखण्ड रूपसे स्पष्ट स्वरमें द्वादशाक्षर मन्त्रका उच्चारण होते रहना चाहिये । यह अखण्ड उच्चारण एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होना चाहिये । स्वाभाविक है कि ऐसा करनेवालेको सात दिन-रात अन्न (आहारमात्र), जल (पेयमात्र) तथा निद्राका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा ।

यदि सफलतापूर्वक कोई यह अनुष्ठान कर ले तो **'पुमान् पश्यति खेचरान्'** उस व्यक्तिमें यह शक्ति आ जायगी कि वह आकाशमें घूमनेवाले, जन-सामान्यके लिये अदृश्य देवताओं, सिद्धों, ऋषि-मुनियोंको तथा गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदिको देख लिया करेगा । अदृश्यचारियोंको देखनेकी शक्ति उसे प्राप्त हो जायगी ।

स्वाभाविक है कि जो अदृश्यचारियोंको देख सकेगा, वह उनसे बातचीत भी कर सकेगा और उनके सम्पर्कका लाभ भी उसे प्राप्त होगा ही । —सु० सिं०

स्वर्णलताके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पुनर्जन्मकी घटनाओंका अध्ययन एवं संग्रह करता है। पुनर्जन्मकी प्रस्तुत घटना कई विशेषताओंके कारण विशेष उल्लेखनीय है। यह घटना आश्चर्यजनक चकित करनेवाली कई बातोंपर प्रकाश डालती है। बालिका स्वर्णलताद्वारा आसमिया भाषाके गीत गाना और भिन्न प्रकारका नाच नाचना उन कई विशेषताओंमें एक है।

घटनाका विवरण

श्रीमनोहरलाल मिश्र, उपशिक्षा निर्देशक, छतरपुरकी सुपुत्री कुमारी स्वर्णलताने अपने पिछले जन्मका हाल बताकर सभीको हैरान कर दिया। जब वह प्रायः साढ़े तीन वर्षकी आयुकी थी, तब वह अपनी माँके साथ पन्ना नामक नगरमें रहती थी। एक बार जब वह अपने परिवारके साथ जबलपुरकी सैर करने गयी तो वापस लौटते समय उनकी गाड़ी कटनी होते हुए छतरपुर आयी थी। कटनीमें स्वर्णलता अचानक बोली कि इस मोटवालीका रास्ता उसके मकानको जाता है। कटनीमें ठहर कर जब उसके परिवारके लोग चाय आदि पी रहे थे तो वह बोली कि यदि वे सब यहाँ चाय न पीकर उसके मकानके पासवाली दूकानपर चाय पीते, तब उन्हें अच्छी चाय मिलती। बालिकाकी इन बातोंने श्रीमिश्रको बहुत हैरान किया। इससे भी अधिक उसके पिताजी हैरान तब हुए, जब बालिकाके साथी उसके पितासे कहते कि उनकी लड़की कहती है कि 'वह गतजन्ममें छतरपुरके पाठक-परिवारकी सदस्या थी।' बादमें कुछ बड़ी होनेपर स्वर्णलता अपने माता-पिता एवं अन्य लोगोंके सामने नवीन प्रकारके नृत्य एवं नये-नये ढंगके गाने प्रस्तुत करने लगी। इस प्रकार वह कई वर्षतक अपने भाई-बहिनोंके सामने अपनी पिछली जन्मकी स्मृतियोंका वर्णन करने लगी।

१९५८ की बात है। प्रोफेसर अग्निहोत्रीकी धर्मपत्नी, जो कि कटनीकी रहनेवाली थीं, छतरपुर आयीं। स्वर्णलताने श्रीमती अग्निहोत्रीको तुरंत पहचान लिया और कहा कि वह श्रीमती अग्निहोत्रीको भलीभाँति जानती है। जब यह घटना समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुई तो प्रो० बनर्जी इस घटनाकी जाँच करने घटनास्थलपर पहुँचे। प्रो० बनर्जीने छतरपुर और कटनी जाकर इस घटनाकी जाँच की। कटनीके लिये रवाना होनेसे पूर्व खोजकर्ताने स्वर्णलताके बयानोंको नोट कर लिया था और टेप-रेकार्ड भी किया था। प्रो० बनर्जीके कटनी पहुँचनेसे पूर्व श्रीमिश्र और पाठक-परिवार एक दूसरेको नहीं जानते थे। स्वर्णलताद्वारा बताये गये रास्ते और मकानके नकशेके आधारपर ही खोजकर्ता कटनीमें पाठक-परिवारका मकान ढूँढ़नेमें सफल हुए। प्रो० बनर्जीने कटनी पहुँचकर पाठक-परिवारसे सम्पर्क स्थापित किया और स्वर्णलताद्वारा दिये बयानोंके आधारपर इस बातको पाया कि स्वर्णलताद्वारा दिया गया वर्णन पाठक-परिवारकी कन्या बीयाके जीवनसे मिलती-जुलती है। बीयाका विवाह महियरनिवासी श्रीचिन्तामणि पाण्डेसे हुआ और १९३९ में बीयाका स्वर्गवास हो गया था।

१९५९ की गर्मियोंमें पाठक-परिवारके सदस्य छतरपुर गये और वहाँपर स्वर्णलताने उन सबको तुरंत पहचाना। इसके कुछ दिनोंके बाद स्वर्णलता एवं उसके परिवारवाले भी कटनी महियर गये। महियर पहुँचकर स्वर्णलताने महियरके अनेक व्यक्तियोंको पहचाना और बीयाके मरनेके बाद हुए परिवर्तन आदिके बारेमें बताया। स्वर्णलता अब भी बीयाके भाइयोंके और उसके बच्चोंके यहाँ जाती है और उनके प्रति उसके हृदयमें गहरी संवेदना भी है।

कटनी और छतरपुरके दोनों जीवनोंके बीचमें वह एक जन्मका हाल और भी बताती है। उसका कहना है कि बीयाके रूपमें उसकी मृत्युके बाद उसने एक जन्म सिलहटमें लिया था, जो कि पहले आसाममें था और अब पाकिस्तानमें है। वहाँपर उसका नाम कमलेश था और दस वर्षकी आयुमें उसकी मृत्यु हुई थी। स्वर्णलताके गीत और नृत्य आसामके गीत और नृत्योंसे मिलते-जुलते हैं। उसके गीतोंकी भाषा हिंदी नहीं है, जो कि उनके परिवारमें बोली जाती है; क्योंकि स्वर्णलताके इस जन्मके बारेमें अभीतक जाँच नहीं की जा सकी, अतः इस जन्मके विषयमें कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

विवाहके बाद श्रीमिश्रका परिवार कभी कटनी क्षेत्रमें नहीं रहा है। कटनी-जबलपुर और छतरपुर-पन्ना क्षेत्रोंकी बोलीमें यथेष्ट अन्तर है। कटनी और छतरपुरमें अन्तर भी कुछ कम नहीं है। अतः हम इसे साधारण साधनोंद्वारा प्राप्त की गयी सूचनाके कारण ऐसा नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त मिश्र और पाठक-परिवारमें पहले किसी भी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं था और वे एक दूसरेके बारेमें कुछ

जानते भी नहीं थे। इन दोनों परिवारोंके बीच सम्बन्ध तब हुआ जब कि प्रो० बनर्जी वहाँपर जाकर घटनाकी जाँच करने कटनी गये। इससे पूर्व दोनों परिवारोंमें किसी प्रकारका आदान-प्रदान न था।

यद्यपि एक-दो बार श्रीमिश्र जबलपुर जाते समय कटनीसे होकर गुजरे अवश्य थे, लेकिन इस कारणसे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उन्हें पाठक-परिवारके विषयमें मालूम था। साथ ही स्वर्णलताद्वारा पाठक-परिवारके मकानके अंदरकी चीजोंके बारेमें बताना और भी आश्चर्यजनक है। स्वर्णलताद्वारा मकानके अंदर पेड़, खिड़कियों एवं चौक आदिके विषयमें दिये गये निर्देश भी ठीक पाये गये। इतना ही नहीं, बालिकाने मकानके कमरों और मकानकी बनावटके विषयमें वह हाल बताया जो पहले था और बीयाके मरनेके बाद तो काफी बदल चुका था।

जहाँतक स्वर्णलताकी मनोदशाका प्रश्न है उसके पिताने कई बार यह नोट किया कि उसका व्यवहार अपनी ही आयुकी अन्य लड़कियोंकी अपेक्षा अधिक गाम्भीर्य लिये हुए है। कटनी जानेपर वह ठीक पाठकोंकी बड़ी बहिन-जैसा व्यवहार करती है। पाठक-परिवारके सदस्योंकी आयु ४० वर्षसे भी अधिक है; लेकिन वह उनसे भी वैसा ही व्यवहार करती है, मानो वह उनसे आयुमें बड़ी हो। यही कारण है कि उसके इस व्यवहारके कारण पाठक भी उसे अपनी बड़ी बहिन-जैसा ही सम्मान करते हैं। अभी भी वह राखीके पुनीत अवसरपर पाठकोंको राखी बाँधती है और बहिन-जैसा व्यवहार करती है। श्रीआर० पी० पाठक यह मानते हैं कि वे इस घटनासे पूर्व पूर्वजन्मके सिद्धान्तमें उतना विश्वास नहीं करते थे, जितना अब करते हैं।

स्वर्णलताका बीयाके बच्चोंके प्रति व्यवहार अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण है। बीयाके बच्चोंसे मिलनेपर उसके हृदयमें माँकी ममता मानो उमड़ पड़ती है। बीयाके बच्चे, जिनकी आयु अब प्रायः ३० वर्ष है, अब भी उसमें माँकी ममता पाते हैं। स्वर्णलताका व्यवहार सचमुच अनोखा ही है। जब भी वह पाठक-परिवारके किसी सदस्यसे मिलती अथवा बिछुड़ती है, तो उसकी आँखोंमें आँसू छलछला जाते हैं। कटनीके विषयमें सोचते समय वह गहरी वेदना अनुभव करती है। खोजकर्तासे बातें करते समय उसकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली थी।

स्वर्णलताके माता-पिताने शुरूमें इस घटनाकी जाँच करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया। उसके माता-पिताका इस घटनाके प्रचार करनेका भी कोई इरादा नहीं था। लेकिन शिक्षित परिवार होनेके कारण उन्होंने कभी भी स्वर्णलतासे दुर्व्यवहार नहीं किया कि वह अपने पिछले जन्मका हाल बताना छोड़ दे। स्वर्णलताके जन्मको उसके माता-पिताने एक वरदान-स्वरूप समझा है।

खोजकर्ताने खोजके आधारपर यह पाया कि यह कदापि सम्भव नहीं है कि दोनों परिवारोंने एक दूसरेके बारेमें सूचना साधारणतः प्राप्त की हो। साथ ही पाठक-परिवारके मकानके अंदरके भागोंके विषयमें जानकारी देना और यह बताना कि बीयाके सामनेका दाँत सोनेसे भराया गया था, आदि सूचनाएँ जनसाधारणको तो क्या, आसानीसे उसके भाइयोंतकको याद नहीं थी। पाठक और पाण्डे-परिवारके सदस्योंको पहचानना और अन्य लोगों एवं स्थान आदिके विषयमें बताना कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर इस घटनाका अस्तित्व निर्भर करता है।

घटनाओंकी खोज

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक रीतिसे इस समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है। विभाग इस प्रकारकी घटनाओंसे सम्बन्धित मत-मतान्तरोंके प्रति किसी प्रकारका आग्रह नहीं रखता है। अतः फिलहाल इस प्रकारकी घटनाओंको पुनर्जन्मकी घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त न समझकर अति-मस्तिष्क-स्मृति (Extra Cerebral Memory) की घटनाएँ कहना अधिक अच्छा समझता है। जबतक इस प्रकारकी अनेक घटनाओंके अध्ययनके फलस्वरूप किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँचा जाता, तबतक यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ क्यों और कैसे होती हैं। इस समस्याका और भी पूर्णरूपसे अध्ययन किया जाय, इसके लिये जरूरी है कि पाठकोंद्वारा विभागके पास अधिक-से-अधिक घटनाओंकी सूचना भेजी जाय एवं घटनाओंके अध्ययनके लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। अतः पाठक महानुभावोंसे अनुरोध है कि वे घटनाओंकी सूचना निम्न पतेपर भेजनेका कष्ट करें।

प्रो० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी,
संचालक,
पैरासाइकोलाजी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मनसुख-विरह

[श्रीकृष्णके मथुरा पधार जानेके बाद उनके प्रिय सखा मनसुखाका विलाप]

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

प्रथम तरंग

(१)

मधुर मन-मन्दिरको कर शून्य,
गये हो जबसे तुम व्रजराज ।
हँसाता रहता था जो तुम्हें—
स्वयं रोता रहता है आज ॥
बने थे क्यों दो दिनके लिये—
निठुर ! इन प्राणोंके मेहमान ।
चुरा कर चले गये चुपचाप,
हमारे होठोंकी मुसकान ॥
छुटी वह गाँठ लगी जो कभी,
तुम्हारे साथ धूलमें लोट ।
फूल-सी छातीने किस तरह,
सही थी यह बज्जर-सी चोट ॥
अगर तुम होते अपने पास,
दिखाते तुम्हें कलेजा चीर ।
बसा है इसमें कितना दर्द
भरी है कितनी भारी पीर ॥
हो गया है वाणीके परे,
तुम्हारे मनसुखका अवसाद ।
सँजोती रहती दुखके स्वप्न—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(२)

सलौने कृष्ण तुम्हें जिस घड़ी,
ले गये मथुराको अक्रूर ।
न होता वह अकुलाता हृदय,
निमिष भर भी नयनोंसे दूर ॥
यशोदा मैया दोनों हाथ,
तुम्हारी भरे हुए थीं जेट ।
मीन-सी तड़प रहीं व्रजबाल,
तुम्हारे रथके आगे लेट ॥
हृदयको थामे व्याकुल मौन,
खड़ी थी राधा रथकी ओट ।
हो गया था छलनी सौ टूक-
कलेजा झेल विरहकी चोट ॥
रँभाती थीं खूँटोंपर बँधी
तुम्हारी श्यामा-धौरी गाय ।
शूल-सी कसक रही थी हूक,
तुम्हारी देख विदाई हाय !
घुल गया है प्राणोंमें पिघल,
तभीसे पीड़ाओंका स्वाद ।
सताती रहती है हर समय
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(३)

सुहाते नहीं तुम्हारे विना,
सखा ! अब कालिन्दीके कूल ।
बिखर जाते हैं अब तो हाय !
अधखिले ही मुरझा कर फूल ॥
देख यमुनाकी दग्ध कछार,
रुलाई बरबस पड़ती फूट ।
व्यथित करती कुंजें श्रीहीन,
धीर जाता है बरबस छूट ॥
वनोंमें गौ-चारणके समय,
मित्र अब खाते हैं जब छाक ।
खूनके पीने पड़ते घूट,
कलेजा हो जाता है चाक ॥
कहाँ अब यमुना-तटके खेल,
अरे अब कहाँ प्यारकी बात ।
बरसती रहती है दिन रैन,
नयनसे आँसूकी बरसात ॥
घटाओं-सा घिर घिर कर घुमड़
गहन होता रहता अवसाद ।
न लेने देती पल भर चैन—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(४)

एक दिन गेंद खेलते समय,
गया था मैं तुमसे जब रूठ ।
मनाया था तुमने जिस तरह—
याद कर जाता है दिल टूट ॥
न सोचा सपनेमें भी कभी,
अरे जायेगा तू यों छोड़ ।
गिरायी है बिजली-सी निठुर—
नेहका नाता हमसे तोड़ ॥
तड़फते हैं तुम बिन गौ-वत्स,
बिलबिलाते हैं व्याकुल मोर ।
लूट कर चला गया सुख-चैन–
अरे क्यों भैया ! माखनचोर ?
दुखी हैं तेरे बिन हर घड़ी,
विहग, वन-लता, कदम्ब, करील ।
खोजती व्रज-रज ऊँचे चढ़ी–
छिप गये कहाँ चरण वे नील ॥
बाँधता धीरज विविध प्रकार–
न मिटता मनका किंतु विषाद ।
कसकती जब काँटेकी तरह–
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(५)

दरशके प्यासे तरसें सदा,
गोपियोंके सूने घर द्वार ।
लुटाया था जिनमें चितचोर–
किसी दिन नाच नाच कर प्यार ॥
टँगे छीकोंपर माखन-माँट,
टकटकी लगा राहकी ओर ।
देखते रहते हैं दिन-रात—
आ रहे होंगे माखनचोर ॥
हो गयीं तुम बिन सूनी श्याम–
सुहानी वृन्दावनकी गलीं ।
रुलाते हैं सावनके मेघ—
न लगतीं मधुर मल्हारें भलीं ॥
तुम्हारे प्रेम-पाशमें बँधे–
छटपटाते हैं पागल प्राण ।
पीर तक अकुलाती है स्वयं—
कसक-से मिले न पलभर त्राण ॥
सुलगते हैं निशिवासर श्वास,
विरह-ज्वरमें भर भर उन्माद ।
धड़कनोंमें ऐसी बस गयी
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(६)

गूँजते हैं श्रवणोंमें सदा—
मधुर मुरलीके मीठे गीत ।
वायुके झोंके व्याकुल बने
बसा श्वासोंमें सुखद अतीत ॥
तड़फता है व्रजका हर ग्वाल—
गोप, बाला, वनिता तज धीर ।
जगाता है पीड़ाके भाव,
सखा यमुनाका आकुल नीर ॥
भँवरके वक्षस्थलपर सिसक,
लहर पीटा करती है भाल ।
छटपटा रही स्वयं मझधार—
किनारोंको कर-कर बेहाल ॥
लगी है ऐसी भीषण आग
गये हैं सभी चौकड़ी भूल ।
तुम्हारे चरणकमलकी चाह
सँजोये पिसती रहती धूल ॥
प्यार पूजाके बदले दिया—
हाय कैसा यह विरह प्रसाद ।
जलाती रहती तिल-तिल प्राण,
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(७)

तुम, मैं, श्रीदामा दिन एक,
गये श्रीललिताजीके गेह ।
चुराकर माखन खाने, और
देखने उनके मनका नेह ॥
भिड़ा था केवल घरका द्वार—
गयी थीं वे जमुना जल-हेत ।
जानकर यों खाली मैदान—
घुसे हम तीनों प्रेमसमेत ॥
देख ऊँचे छींके पर टँगी
मटुकिया माखनकी, तत्काल ।
बने हम दोनों घोड़ा, और—
आपने चढ़ ऊपर गोपाल ॥

उसी क्षण जब उस घरके बीच,
मचायी थी माखनकी लूट।
आ गयी ललिता, चौंके आप,
हाथसे गयी मटुकिया फूट॥
सखीने हँस-हँस कर उस समय,
मनाया था कैसा अह्लाद।
दिलाते रहते ऐसे चित्र
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(८)

एक दिन तुमसे यमुना तीर,
खेलमें डूब गयी थी गेंद।
कहा श्रीदामाने कर क्रोध—
हमारी लाओ मोहन गेंद॥
तभी तुम तज प्राणोंका मोह,
पड़े थे कालिन्दीमें कूद।
और मैं आकुल-व्याकुल विलख—
बहा आँसूकी अविरल बूँद॥
गया यशुदा मैयाके पास,
भाग कर नन्दगामकी ओर।
मच गया था कैसा उस समय—
सभी दिसि हाय-हायका शोर॥
गाय-सी डकराती थी मात,
पछाड़ें खाते बाबा नन्द।
डूब मरते उस दुखमें सभी—
न रहते जो दाऊ सानन्द॥
उसी क्षण कालिय फनपर नाच
मिले थे तुम सबसे सह्लाद।
बढ़ाते रहते ऐसे खेल—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(९)

रहा करता हूँ यों तो सदा,
यादमें तेरी बहुत उदास।
किंतु जब बढ़ जाती है पीर—
छटपटाती हैं अधिक उसास॥
एक दिन इसी दशामें विकल,
गया मैं चरण-पहाड़ी ओर।
वहाँके देख दहकते दृश्य,
हो गये श्वास विशेष विभोर॥
बिलखती पीरीपोखर मिली,
मिला सूना पनिहारी कुंड।
भर रहे, सिर धुन गीली आह—
कदम वृक्षोंके झुक-झुक झुंड॥
दग्ध था गहवर वनका हृदय—
नहीं था शीतल कोई ठाँव।
प्रज्वलित रही विरहकी आग,
जल रहा था बरसाना गाँव॥
ढह रहा था हो-होकर खण्ड,
राधिकाका स्वर्णिम प्रासाद।
और तब घनीभूत हो गयी—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(१०)

काम-वन सुलग रहा था स्वयं,
दानकी लीलाओंमें डूब।
रासमण्डलके चारों ओर,
छा रही थी अति गहरी ऊब॥
न देखा कोई आँगन, द्वार,
गेह, चौपाल, चौतरा, खिड़क।
निरख कर निमिष मात्र ही जिसे—
न जाता हो पत्थर-उर धड़क॥
मानसी गङ्गा, राधाकुण्ड,
तुम्हारा प्रिय संकेत-स्थान।
गा रहे थे रो-रोकर सभी—
तुम्हारे मधुर मिलनके गान॥
हाल ही जन्मे शिशुसे बिछुड़—
रँभाये जैसे व्याकुल गाय।
पवनके आकुल स्वरसे श्याम—
निकलती थी ऐसी ही हाय॥
तुम्हारे विरह-सिन्धुकी बाढ़,
कर गयी थी सबको बरबाद।
बसी थी कण-कणमें उस ठौर—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(क्रमशः)

श्रीराधा-माधव-रस-सुधा

(लेखक—श्रीनटवर गोस्वामी)

भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने व्रजमें प्रकट रहकर रसकी जो मधुरातिमधुर धारा बहायी, उसकी विश्व-ब्रह्माण्डमें कहीं कोई तुलना नहीं है। व्रज-रसके प्राण श्रीव्रजराजकुमारकी आत्मा श्रीराधा हैं। 'आत्मा तु राधिका तस्य'। वे उनकी आराध्या, उपास्या भी हैं। 'आराध्यते असौ इति राधा'। वास्तवमें रसकी सत्ता ही आस्वादके लिये है। अपने-आपको आस्वादन करानेके लिये ही स्वयं रसरूप (रसो वै सः) श्रीमाधव ही 'राधा' बन जाते हैं। इसीलिये मधुर-रसमें राधा ही 'पराशक्ति' हैं। श्रीकृष्ण प्रेमके पुजारी हैं। वे अपनी पुजारिनकी ही पूजा करते हैं। उन्हें अपने हाथों सजाते-सँवारते हैं। उन्हें अपने प्राणोंके निर्मञ्छनद्वारा सदा प्रसन्न रखते हैं।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्दमय हैं, 'कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्-अन्यथा-कर्त्तुम्-समर्थ' हैं। अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, लावण्यके परम निकेतन हैं, अखिलरसामृत-सिन्धु हैं। फिर उनको प्रियतमके रूपमें प्राप्त करनेवाली आराधिका भी उतनी ही सुन्दर होगी। सच्चा सौन्दर्य तो हृदयका है—जिसमें अहंता, ममता, कामना, वासनाका कलङ्क-लेश भी नहीं, विषयासक्तिकी तनिक-सी मलिनताकी छाया नहीं तथा स्वसुख-वासनाकी किञ्चित् भी कल्पना नहीं है। जो केवल प्रियतमकी प्रेमसुधासे ही नित्य परिपूर्ण है, जिसमें केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी ही सहज चाह है, ऐसे दिव्य अनन्त, अखण्ड, अनन्य सौन्दर्यकी जीवित जाग्रत् प्रतिमा हैं—श्रीराधाजी।

श्रीकृष्ण चिन्मय परतत्त्व हैं। वे पूर्ण ज्ञान-स्वरूप हैं। और राधा माधव-प्रेमकी घनीभूत नित्य चेतन स्थिति हैं। वे पवित्रतम प्रेमकी एकमात्र आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। उनका प्रेम विभु होनेपर भी सदा वर्द्धनशील, सर्वोत्कृष्ट होनेपर भी गौरव-अहंकार आदिसे रहित, वक्र होते हुए भी परम शुद्ध निर्मल है। माधवके प्रति राधिकाका यह अनुराग सदा विजयशाली है। माधवका मन निरन्तर बरबस राधामें लगा रहता है। राधाने माधवका चित्त चुरा लिया है, वे सदा राधाप्रेममें विह्वल हैं। वे दिन-रात राधाके अगाध प्रेममें पड़े हुए उसकी मधुर-मधुर लहरियोंमें ही प्रमुदित मनसे नाचते रहते हैं।

प्रेमके विकासमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये कई स्तर हैं। महाभावके भी मोदन और मादन—दो भेद हैं। श्रीराधामें मादनाख्य महाभाव या प्रेम है। इस मादनाख्य महाभावरूप श्रीराधा-प्रेमके सदृश श्रेष्ठ या महान् वस्तु कोई है ही नहीं।

मादनोऽयं परात्परः।' श्रेष्ठ वस्तुमें प्रायः श्रेष्ठत्वका अभिमान होता है, परंतु राधा-प्रेममें वह तनिक भी नहीं है। मादनाख्य महाभाव ही प्रेमका पूर्ण विकास है। इसी मादन-प्रेम-समुद्रमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदिकी, इनके अन्तरस्थ अनन्त विचित्र भावोंकी रससुधामयी अनन्त तरङ्गें उठा करती हैं।

उपर्युक्त स्नेह आदिका संक्षिप्त रूप यह है—

(१) परमत्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी प्रियतम माधव-सुखेच्छारूप परम पवित्र अनुपम वृत्तिको 'प्रेम' कहते हैं।

(२) प्रेम अपने विषय प्रियतम माधवको पाकर चित्तको जब द्रवित कर देता है तब 'स्नेह' कहाता है। स्नेहके उदयसे माधव-दर्शन-लालसा तीव्रतम वेगसे बढ़ जाती है।

(३) जिसमें अत्यन्त नवीन माधुर्यका अनुभव होता है, स्नेहके ऐसे उत्कर्षको 'मान' कहते हैं। प्रेमका यह वाम और वक्रभाव प्रेमसे भिन्नजातीय नहीं है। इसके उदयसे प्रेम मलिन नहीं होता, वरं उसकी उज्ज्वलता तथा आस्वादन-चमत्कारिता और भी बढ़ जाती है।

(४) ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे यही मान उत्कर्षको प्राप्त हो प्रियतमसे पूर्ण अभिन्न कर देता है—जब कुछ भी पृथक्ता नहीं रहती, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है।

(५) प्रियतम-मिलनकी आशामें जब दुःख ही परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अत्यन्त दुःख-मय दिखायी देने लगते हैं—'प्रणय'की यह उत्कर्षयुक्त अवस्था 'राग' कहाती है।

(६) नित्य अनुभूत प्रियतम माधव जब दिखायी देते हैं, प्रतिपल उनकी मधुरता बढ़ती ही दृष्टिगोचर होती है—रागके उत्कर्षकी इसी दशाका नाम 'अनुराग' है।

(७) प्राणत्यागसे भी अधिक कठिन दुःख जब अत्यन्त तुच्छ हो जाता है अपितु श्रीमाधव-प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय हो जाता है, तब वह बढ़ा हुआ अनुराग ही शुभ 'भाव' नाम धारण करता है।

यह भाव सहज ही उच्चतम स्तरपर पहुँचकर 'महाभाव'-में परिनिष्ठित हो जाता है। यह प्रेमका परमोज्ज्वल और परमोत्कृष्ट स्वरूप नित्यानन्त है।

श्रीराधाके निज-स्वरूपगत 'महाभाव'का प्रकाशक काव्य संस्कृत-साहित्यमें बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। व्रज-साहित्य-में भी उसकी झलक बहुत कम स्थलोंमें ही होती है। बंगला-साहित्यमें 'विरहिनी व्रजांगना' जैसे काव्योंमें अवश्य उसका सरस आस्वादन होता है। वास्तवमें राधा हैं भी पूर्णचन्द्र-श्रीकृष्ण-चन्द्रके पूर्णतम विकासकी आधार-मूर्ति। राधा-भावद्युति-सुवलित-तनु श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त श्रीराधाकी महिमा कह भी कौन सकता है ? वे भी राधा-गुण-स्मृतिसे इतने विह्वल तथा मुग्ध गद्गद-कण्ठ हो जाते हैं कि उनके द्वारा भी भाव-प्रकाश होना सम्भव नहीं। तब इस मधुरतम, परम निर्मल, मनभावन 'महाभाव' पर प्रकाश कौन डाले ?

श्रीराधाका विशुद्ध महाभाव-रूप प्रेम श्रीकृष्णके परमोज्ज्वल माधुर्यको ग्रहण करता है। स्व-सुख-वाञ्छाहीन विशुद्ध राधाप्रेममें श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरी पूर्णरूपसे आस्वादित भी हो जाती है और उससे राधा-प्रेम और अधिक स्वच्छ एवं ज्योतिर्मय बन जाता है। इसी प्रकार राधा-प्रेमरूप ज्योति अनवरतरूपसे श्रीकृष्णके माधुर्यपर पड़ती है और उसे अधिकतर, अधिकतम ज्योतिर्मय बनाती है। यों श्रीकृष्णके माधुर्यसे राधा-प्रेम और राधा-प्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार दोनोंमें परस्पर होड़ लगी रहती है।

हिंदी वाङ्मयमें श्रीराधाके 'मादनाख्य' महाभावरूप प्रेमका प्रकाशक काव्य 'राधा-माधव-रस-सुधा' देखकर हृदय सचमुच ही शीतल हो जाता है। परमोच्च एवं गौरवमयी राधाका मदीयतामय मधुर स्नेह, सर्वथा ऐश्वर्य-गन्ध-शून्यरूपसे इस काव्यमें सर्वोपरि स्थानपर विराजित है। आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा राधा निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्ण-सेवा-निरत है। राधा प्रियतम-को सुख पहुँचाकर, सुखी देखकर जिस प्रेम-सुखका अनुभव करती हैं, वह इतना महान् है कि प्रियतममें भी राधाको सुखी देखकर सुखी होनेकी लालसा तीव्रतम वेगसे उत्पन्न हो जाती है। वे आराध्य न बनकर आराधक बन जाते हैं। रस-साहित्यमें ऐसी रचनाएँ कहाँ हैं जहाँ श्रीकृष्णका यह परम पवित्र रूप प्रकाशित हुआ हो। किस निर्मल भावसे श्रीकृष्ण अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार कर रहे हैं। परम त्यागमय, परम रसमय, परम प्रियतम-सुख-तात्पर्यमय, विशुद्ध प्रेमके प्रकाशक सोलह पद-रत्न इस 'राधा-माधव-रस-सुधा'में इस प्रकार जगमगा रहे हैं, जिनकी ज्योति सचमुच काम-लोलुप, स्वार्थान्ध, प्रेम-प्रकाशहीन वर्तमान लोकके मन-मानसको परम शीतल प्रकाश देती है।

अहा ! राधाके गुण, सौन्दर्यसे नित्य मुग्ध प्रियतम श्यामसुन्दरके अपनी प्रियतमाकी प्रशंसाके उपरान्त, प्रेम-कृतज्ञताके भाव प्रकट करनेके उपरान्त परम विशुद्ध प्रेममयी राधामें किस प्रकार परमोच्च महादैन्यका प्रकाश होता है, इन गीतोंमें देखते ही बनता है। वे रोते-रोते कहती हैं—

तुमसे सदा लिया ही मैंने लेती लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम सौभाग्य मिला पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं॥

आज सर्वत्र 'काम' का प्रभाव है। विद्वानोंकी विद्वत्ता, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, त्यागीका त्याग, संयमीका संयम, तपस्वी-की तपस्या, साधुकी साधुता, विरक्तका वैराग्य, धर्मात्माका धर्म और ज्ञानीका ज्ञान भी आज काम-गन्ध-युक्त ही दिखायी पड़ रहा है ! काम सबको बात-की-बातमें नष्ट करता हुआ, सर्वजयी-सा बनकर थिरक रहा है ! इसीसे 'राधा-प्रेम'के नामपर काव्य-साहित्यमें इस प्रकारकी रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, जिनसे प्रेमके नामपर 'काम' का ही प्रसार होता है। ऐसे मोहमलिन कलिकाव्यमें 'राधा-माधव-रस-सुधा' सदृश रचना सचमुच मोहान्धकारको मिटाकर विशुद्ध प्रेमके दर्शन कराने तथा परमकल्याणकी प्राप्ति कराने-वाली है।

विशुद्ध प्रेमके साधकोंके लिये यह ग्रन्थ सफल मार्ग-दर्शक है। निश्चय ही इस काव्यके भावसम्पन्न हृदयसे प्रति-दिन पाठ करनेमात्रसे ही श्रीराधा-माधवके चरणोंमें दिव्य समर्पणपूर्ण 'प्रेम' का उदय हो सकता है। प्राकृत वाणीसे जिस तत्त्वका प्रकाश इस पुस्तकमें जिस भव्यतासे हुआ है, सर्वथा आदर्श तथा स्तुत्य है।

जौहरी ही हीरेको परखता है। गुणीजन ही गुणका वास्तविक मूल्याङ्कन करते हैं। मैं तो वास्तवमें इस रसका सर्वथा अनधिकारी प्राणी हूँ, किंतु अनेक महात्माओंके इन

पदोंसे सम्बद्ध कुछ इस प्रकारके अनुभव हैं, जिनमेंसे कुछ यहाँ प्रस्तुत करनेमें हर्ष होता है।

महात्मा सुबलदासजी व्रजके एक प्रख्यात संत हुए हैं। अब वे गोलोकवासी हो गये। वे एकान्त साधनरत महात्मा थे और भिक्षान्न लेनेको महीनेमें केवल एक बार बाहर निकला करते थे। श्रीकृष्णकुण्डके तीर उनकी कुटिया आज भी है, जहाँ वे सर्वथा मौन भजन-रत रहते थे और किसी भी आगन्तुकको उनका दर्शन होना सहज नहीं था। ब्राह्म मुहूर्त्तमें केवल स्नानके लिये निकलनेपर ही उनके दर्शन हो सकते थे। एक दिन मैं स्वयं अपने एक मित्रके साथ उनके दर्शनार्थ गया। बहुत चेष्टा की गयी, परंतु उनकी कुटिया नहीं खुली। सहसा मनमें एक संकल्प हुआ कि इन सोलह गीतोंमेंसे एक गीत गाया जाय। मैंने उच्च स्वरसे—'मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो हे व्रजराजकुमार—' गीत गाना आरम्भ किया। उपर्युक्त महात्मा बंगाली थे, पर वर्षों व्रज-वासके कारण कुछ हिंदी समझते थे। ज्यों ही दो-चार पंक्तियाँ इन गीतोंकी गायीं कि उन महात्माने अपनी कुटिया खोल दी और दर्शन दे दिये। आते ही तुरंत उन्होंने मुझे गले लगा लिया और कहा कि 'तुमपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है भाई!' तदुपरान्त इस काव्यके दो-तीन पद उन्होंने सुने। मेरे यह पूछनेपर कि 'बाबा हिंदी समझमें आती है?' उन महात्माने पट्टीपर कुछ शब्द लिखे, जिनसे इन पदोंके भावोंके प्रति उनकी बड़ी ही ऊँची श्रद्धा व्यक्त की गयी थी।

ओंकारेश्वरके महात्मा संत 'श्रीसीताराम ओंकारनाथ' सर्वप्रसिद्ध हैं। घूमते हुए नाम-प्रचार-रत ये संत एक बार मेरे नगरमें पहुँचे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे कीर्तन सुनानेका अवसर दें। अपरिचयके कारण पहले इन महात्माने कोई उत्साह नहीं दिखाया। तत्पश्चात् उन्होंने एक गीत ऐसे ही गानेको कहा। इन महात्माका भी हिंदी-ज्ञान बहुत थोड़ा ही है। पर फिर भी सुनते-सुनते ही ये महात्मा समाधिस्थ हो गये। तत्पश्चात् इन सम्पूर्ण पदोंका खूब गायन हुआ। तीन-चार घंटेके पश्चात् इनकी चेष्टासे समाधि छुड़ायी गयी। बाबा बहुत प्रसन्न हुए। मुझे उन्होंने गले लगा लिया। मेरे मस्तकका प्रेमसे वे अश्रुपातद्वारा अभिषेक करने लगे और जबतक ये महात्मा मेरे नगरमें रहे, रोज रात्रिको इन्हीं गीतोंका गायन होता रहा। वास्तवमें मैं बहुत ही सामान्य घरा-हलका जीव हूँ। मैं तो इन गीतोंको गानेका भी अधिकारी वास्तवमें नहीं हूँ। यह सब तो इन गीतोंमें निहित बस्तु गुणका ही चमत्कार था। इसी प्रकार 'राधा-माधव'के कृपा-पात्र कई अन्य महानुभावोंने भी इन गीतोंके भावोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा बड़ी श्रद्धासे की है। ऐसे महात्माओंसे प्रेरणा प्राप्त करके ही मैं प्रतिदिन इन गीतोंका पाठ करने लगा हूँ और इससे मुझे अद्भुत लाभ हुआ है, उसे व्यक्त करनेमें मैं असमर्थ हूँ। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि जो भी व्यक्ति श्रद्धा-युक्त हृदयसे इन पदोंका नियमित पाठ करेंगे, उन्हें श्रीराधा-माधवकी कृपासे जीवनमें महान् परिवर्तनके दर्शन स्वयं होंगे। नीचे इस ग्रन्थके वे सोलह गीत प्रारम्भकी 'वन्दना' और उपसंहारकी 'पुष्पिका'के सहित पाठकोंके लाभार्थ दिये जा रहे हैं। गीतोंके रचयिताका नाम नहीं दिया जाता है।

[षोडशगीत]

महाभाव-रसराज-वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ॥
आश्रय-आलंबन दोउ, विषयालंबन दोउ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख-सुखिया दोउ॥
लीला-आस्वादननिरत महाभाव-रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज॥
सहित बिरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत॥
श्रीराधा-माधव-चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्त्व दो तनु धरें, नित-रस-पारावार॥

(१)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग मालकोस—तीन ताल)

राधिके! तुम मम जीवन-मूल।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल॥
जस सरीर में निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि ब्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग॥
तस तुम प्रिये! सबनि के सुख की एक मात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार॥
तुम्हरे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेमसिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान॥
तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तें पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ तनिक न मानौ ऊन॥

सोऊ अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच॥
तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायव्यूह निज-रस-बितरन करवावति परम उदार॥
तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन वाम रसास्वादन हित बनती रहूँ निमित्त॥

(२)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग रागेश्वरी—ताल दादरा)

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवनधन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौ मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ॥
तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं॥
सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहि सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे॥
तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ॥
तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सचु पावौं।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं॥

(३)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

हे आराध्या राधा! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुलमें बास॥
तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन॥
इसी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूपमाधुरीके दर्शन हित रहता चित्त अधीर॥
इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातककी ज्यौं, रूप-स्वातिका करने पान॥
तेरी रूप-शील-गुण माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेम गान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर॥

(४)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल).

मेरी इस विनीत बिनतीको सुन लो हे व्रजराजकुमार!
युग-युग जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार॥
पद-पङ्कज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल।
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल॥
दासी मैं हो चुकी सदाको, अर्पणकर चरणोंमें प्राण।
प्रेम-दामसे बँध चरणोंमें, प्राण हो गये धन्य महान॥
देख लिया त्रिभुवनमें बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधाने हेरा॥
इस कुल, उस कुल—दोनों कुल गोकुलमें मेरा अपना कौन।
अरुण मृदुल पदकमलोंकी ले शरण अनन्य, गयी हो मौन॥
देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन॥
रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं, चरणोंमें ही लगी रहूँगी बस, हरदम॥

(५)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग परज—तीन ताल)

हे वृषभानुराज-नन्दिनि! हे अतुल प्रेम-रस-सुधा-निधान!
गाय चराता वन-वन भटकूँ, क्या समझूँ मैं प्रेम-विधान॥
ग्वाल-बालकोंके सँग डोलूँ, खेलूँ सदा गँवारू खेल।
प्रेम-सुधा-सरिता तुमसे मुझ तप्त धूलका कैसा मेल॥
तुम स्वामिनि अनुरागिणि! जब देती हो प्रेमभरे दर्शन।
तब अति सुख पाता मैं, मुझपर बढ़ता असित तुम्हारा ऋण॥
कैसे ऋणका शोध करूँ मैं, नित्य प्रेम-धनका कंगाल।
तुम्हीं दया कर प्रेमदान दे मुझको करती रहो निहाल॥

(६)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग परज—तीन ताल)

सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन, दुखमोचन व्रजराजकिशोर।
देखूँ तुम्हें निरन्तर हिय-मन्दिरमें हे मेरे चितचोर!॥
लोक-मान-कुल-मर्यादाके शैल कभी कर चकनाचूर।
रक्खूँ तुम्हें समीप सदा मैं, करूँ न पलक तनिक भर दूर॥
पर मैं अति गँवार ग्वालिनि, गुणरहित कलंकी सदा कुरूप।
तुम नागर गुण-आगर अतिशय, कुलभूषण सौन्दर्य-स्वरूप॥
मैं रस-ज्ञान-रहित, रसवर्जित, तुम रसनिपुण, रसिक सिरताज।
इतनेपर भी दया-सिन्धु! तुम मेरे उरमें रहे विराज॥

(७)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा अनुपम, अकथ, अनन्त।
युग-युगसे गाता मैं अविरल, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥

सुधानन्द बरसाता हियमें तेरा मधुर वचन अनमोल।
बिका सदाके लिये मधुर दृग-कमल, कुटिल भ्रुकुटीके मोल॥
जपता तेरा नाम मधुर अनुपम, मुरलीमें नित्य ललाम।
नित अतृप्त नयनोंसे तेरा रूप देखता अति अभिराम॥
कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मनकी आश।
एक तुझीको पाया मैंने, जिसने किया पूर्ण अभिलाष॥
नित्य तृप्त निष्काम नित्यमें मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम।
तेरे दिव्य प्रेमका है यह जादूभरा मधुर परिणाम॥

(८)

श्रीराधाके प्रेमोद्‌गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी तर्ज़—तीन ताल)

सदा सोचती रहती हूँ मैं, क्या दूँ तुमको, जीवनधन!
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन॥
तुम ही मेरे प्राणप्रिय हो, प्रियतम! सदा तुम्हारी मैं।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं॥
प्यारे! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम! एक॥
मेरे सभी साधनोंकी बस, एकमात्र हो तुम ही सिद्धि।
तुम ही प्राणनाथ हो बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि॥
तन-धन-जनका बन्धन टूटा, छूटा भोग-मोक्षका रोग।
धन्य हुई मैं प्रियतम! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग॥

(९)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

राधे, हे प्रियतमे, प्राण-प्रतिमे, हे मेरी जीवनमूल।
पल भर भी न कभी रह सकता, प्रिये मधुर! मैं तुमको भूल॥
श्वास-श्वासमें तेरी स्मृतिका नित्य पवित्र स्रोत बहता।
रोम-रोम अति पुलकित तेरा आलिङ्गन करता रहता॥
नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान।
नासा अङ्ग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधारस-पान॥
अङ्ग-अङ्ग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अङ्ग-स्पर्श।
नित्य नवीन प्रेम-रस बढ़ता, नित्य नवीन हृदयमें हर्ष॥

(१०)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

मेरे धन-जन-जीवन तुम ही, तुम ही तन-मन, तुम सब धर्म।
तुम ही मेरे सकल सुखसदन, प्रिय निज जन, प्राणोंके मर्म॥
तुम्हीं एक बस आवश्यकता, तुम ही एकमात्र हो पूर्ति।
तुम्हीं एक सब काल, सभी विधि हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति॥
तुम ही काम-धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिरमें भगवान॥*
सभी इन्द्रियोंको तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श-सुख-दान।
बाह्याभ्यन्तर नित्य निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान॥
कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग।
घुले-मिले रहते करवाते करते निर्मल रस-संभोग॥
पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न।
हुए सभी संकल्प भङ्ग मैं-मेरेके समूल तरु छिन्न॥
भोक्ता-भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग-वियोग॥

(११)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग शिवरंजनी—तीन ताल)

मेरा तन-मन सब तेरा ही, तू ही सदा स्वामिनी एक।
अन्योंका उपभोग्य न भोक्ता है कदापि, यह सच्ची टेक॥
तन समीप रहता न स्थूलतः, पर जो मेरा सूक्ष्म शरीर।
क्षणभर भी न विलग रह पाता, हो उठता अत्यन्त अधीर॥
रहता सदा जुड़ा तुझसे ही, अतः बसा तेरे पद-प्रान्त।
तू ही उसकी एकमात्र जीवनकी जीवन है निर्भ्रान्त॥
हुआ न होगा अन्य किसीका उसपर कभी तनिक अधिकार।
नहीं किसीको सुख देगा, लेगा न किसीसे किसी प्रकार॥
यदि वह कभी किसीसे किंचित दिखता करता पाता प्यार।
वह सब तेरे ही रसका बस, है केवल पवित्र विस्तार॥
कह सकती तू मुझे सभी कुछ, मैं तो नित तेरे आधीन।
पर न मानना कभी अन्यथा, कभी न कहना निजको दीन॥
इतनेपर भी मैं तेरे मनकी न कभी हूँ कर पाता।
अतः बना रहता हूँ संतत तुझको दुखका ही दाता॥
अपनी ओर देख तू मेरे सब अपराधोंको जा भूल।
करती रह कृतार्थ मुझको, दे पावन पद-पङ्कजकी धूल॥

* (दूसरा पाठ) आठों पहर तरसते रहते तुम मन सर-वरमें रसवान॥

(१२)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग शिवरंजनी—तीन ताल)

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती-लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं॥
मेरी त्रुटि, मेरे दोषोंको तुमने देखा नहीं कभी।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी॥
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी!
तुम-सी शीलगुणवती तुम ही, मैं तुमपर हूँ बलिहारी'॥
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतमसे, देख लजाती अपनी ओर।
मेरी हर करनीमें ही तुम प्रेम देखते, नन्दकिशोर!॥

(१३)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

राधे! तू ही चित्तरञ्जनी, तू ही चेतनता मेरी।
तू ही नित्य आत्मा मेरी, मैं हूँ बस आत्मा तेरी॥
तेरे जीवनसे जीवन है, तेरे प्राणोंसे हैं प्राण।
तू ही मन, मति, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, तू ही इन्द्रिय घ्राण॥
तू ही स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियके विषय सभी मेरे सुखरूप।
तू ही मैं, मैं ही तू, बस, तेरा-मेरा सम्बन्ध अनूप॥
तेरे बिना न मैं हूँ, मेरे बिना न तू रखती अस्तित्व।
अविनाभाव विलक्षण यह सम्बन्ध, यही बस, जीवन-तत्त्व॥

(१४)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

तुम अनन्त सौन्दर्य-सुधा-निधि, तुममें सब माधुर्य अनन्त।
तुम अनन्त ऐश्वर्य-महोदधि, तुममें सब शुचि शौर्य अनन्त॥
सकल दिव्य सद्गुण सागर तुम लहराते सब ओर अनन्त।
सकल दिव्य रस निधि तुम अनुपम, पूर्ण रसिक, रसरूप अनन्त॥
इस प्रकार जो सभी गुणोंमें, रसमें अमित, असीम, अपार।
नहीं किसी गुण-रसकी उसे अपेक्षा कुछ भी, किसी प्रकार॥
फिर, मैं तो गुणरहित सर्वथा, कुत्सित-गति, सब भाँति गँवार।
सुन्दरता-मधुरता-रहित, कर्कशा, कुरूप, अति दोषागार॥
नहीं वस्तु कुछ भी ऐसी, जिससे तुमको मैं दूँ रस-दान।
जिससे तुम्हें रिझाऊँ, जिससे करूँ तुम्हारा पूजन-मान॥
एक वस्तु मुझमें अनन्य, आत्यन्तिक, है विरहित उपमान।
'मुझे सदा प्रिय लगते तुम', यह तुच्छ किंतु अत्यन्त महान॥
रीझ गये तुम इसी एक पर, किया मुझे तुमने स्वीकार।
दिया स्वयं आकर अपनेको, किया न कुछ भी सोच-विचार॥
भूल उच्चता, भगवत्ता सब, सत्ताका सारा अधिकार।
मुझ नगण्यसे मिले तुच्छ बन, स्वयं छोड़ संकोच-सँभार॥
मानो अति आतुर मिलनेको, मानो हो अत्यन्त अधीर।
तत्त्वरूपता भूल सभी, नेत्रोंसे लगे बहाने नीर॥
हो व्याकुल, भर रस अगाध, आकर शुचि रस-सरिताके तीर।
करने लगे परम अवगाहन, तोड़ सभी मर्यादा धीर॥
बढ़ी अमित, उमड़ी रस-सरिता पावन, छायी चारों ओर।
डूबे सभी भेद उसमें, फिर रहा कहीं भी ओर न छोर॥
प्रेमी, प्रेम, परम प्रेमास्पद—नहीं ज्ञान कुछ, हुए विभोर।
राधा प्यारी हूँ मैं, या हो केवल तुम प्रिय नन्दकिशोर॥

(१५)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

राधा! तुम-सी तुम्हीं एक हो, नहीं कहीं भी उपमा और।
लहराता अत्यन्त सुधा-रस-सागर, जिसका ओर न छोर॥
मैं नित रहता डूबा उसमें, नहीं कभी ऊपर आता।
कभी तुम्हारी ही इच्छासे हूँ लहरोंमें लहराता॥
पर वे लहरें भी गाती हैं एक तुम्हारा रम्य महत्त्व।
उनका सब सौन्दर्य और माधुर्य, तुम्हारा ही है स्वत्व॥
तो भी उनके बाह्य रूपमें ही बस, मैं हूँ लहराता।
केवल तुम्हें सुखी करनेको सहज कभी ऊपर आता॥
एकछत्र स्वामिनि तुम मेरी अनुकम्पा अति बरसाती।
रखकर सदा मुझे संनिधिमें जीवनके क्षण सरसाती॥
अमित नेत्रसे गुण-दर्शन कर, सदा सराहा ही करती।
सदा बढ़ाती सुख अनुपम, उल्लास अमित उरमें भरती॥
सदा, सदा मैं सदा तुम्हारा, नहीं कदा कोई भी अन्य—
कहीं जरा भी कर पाता अधिकार दासपर सदा अनन्य॥
जैसे मुझे नचाओगी तुम, वैसे नित्य करूँगा नृत्य।
यही धर्म है, सहज प्रकृति यह, यही एक स्वाभाविक कृत्य॥

(१६*)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र, काठकी पुतली मैं, तुम सूत्रधार।
तुम करवाओ, कहलाओ, मुझे नचाओ निज इच्छानुसार॥
मैं करूँ, कहूँ, नाचूँ नित ही परतन्त्र, न कोई अहंकार।
मन मौन—नहीं, मन ही न पृथक्; मैं अकल खिलौना, तुम खिलार॥
क्या करूँ, नहीं क्या करूँ—करूँ इसका मैं कैसे कुछ विचार?
तुम करो सदा स्वच्छन्द, सुखी जो करे तुम्हें, सो प्रिय विहार॥
अनबोल, नित्य निष्क्रिय, स्पन्दनसे रहित, सदा मैं निर्विकार।
तुम जब जो चाहो, करो सदा, बेशर्त न कोई भी करार॥
मरना-जीना मेरा कैसा? कैसा मेरा मानापमान?
हैं सभी तुम्हारे ही प्रियतम! ये खेल नित्य सुखमय महान॥
कर दिया क्रीडनक बना मुझे निज करका तुमने अति निहाल।
यह भी कैसे मानूँ-जानूँ, जानो तुम ही निज हाल-चाल॥
इतना मैं जो यह बोल गयी, तुम जान रहे—है कहाँ कौन?
तुम ही बोले भर सुर मुझमें, मुखरा-से, मैं तो शून्य मौन॥

(पुष्पिका)

महाभाव-रसराजके मधुर मनोहर भाव।
दिव्य, मधुरतम, रागमय, दैन्य विभूषित चाव॥
दोनों दोनोंके लिये सहज सभी कर त्याग।
सुखद परस्पर बन रहे, छलक रहा अनुराग॥
दोनों दोनोंके सदा प्रेमी-प्रेष्ठ महान।
नित्य, अनन्त, अचिन्त्य, शुचि, अनिर्वाच्य रसखान॥
सुख-दुख दोनों ही सुखद, प्रियतम-सुखके हेतु।
अन्य सभी टूटे सहज मिथ्या निजसुख-सेतु॥
राधा-माधव-प्रेम-रस वाचा-चित्त-अतीत।
करते शाखाचन्द्र-से इङ्गित सोलह गीत॥

करनेयोग्य

(१) 'भगवान् स्वभावसे ही दयालु और सुहृद् हैं। भगवान्‌की मुझपर अहैतुकी कृपा बरसती रहती है। वे मेरे लिये जो कुछ भी फल-विधान करते हैं, उसमें निश्चय ही मेरी आत्माका परम कल्याण है। जो कुछ भी दुःखके रूपमें आता है, वह भगवान्‌का आशीर्वाद है और जैसे सोनेको आगमें तपाकर शुद्ध किया जाता है, वैसे ही भगवान् दुःखोंमें तपाकर मुझको शुद्ध कर रहे हैं तथा अपने पास सदाके लिये बुला लेनेकी व्यवस्था कर रहे हैं। भगवान् मेरे हैं, भगवान् ही मेरे हैं, और कुछ भी मेरा नहीं है। मुझे भगवान् कभी छोड़ते नहीं, छोड़ सकते नहीं। उन्होंने मुझको अपना बना लिया है'—

इस प्रकार दिनमें कई बार निश्चय करना है।

(२) 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

इस नाम-मन्त्रकी १४ मालाका जप रोज करना है। मालापर जप होनेमें सुभीता न हो तो दिनभरमें ढाई घंटा (एक बार, दो बार या तीन बारमें) जप पूरा कर लेना चाहिये।

(३) भगवान्‌के स्वरूपकी पहले भलीभाँति धारणा करके फिर ध्यान करना चाहिये।

(४) अपनेपर भगवान्‌की महान् कृपा समझकर हर-हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। कभी न उदास होना चाहिये, न रोना।

(५) सबके साथ नम्रताका व्यवहार करना चाहिये तथा सहनशील बनना चाहिये।

(६) संसारके सम्बन्धको नाटकके सम्बन्धकी तरह केवल खेलमात्र मानना चाहिये। कभी भी राग, द्वेष, ममता, मोह नहीं करना चाहिये।

(७) जब जप-ध्यानमें मन न लगे, तब अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिये तथा घरके प्रत्येक कामको भगवान्‌की पूजा समझकर करना चाहिये।

* 'श्रीराधा-माधव-रस-सुधा'—१६ पदोंकी पुस्तकके संस्कृत, उड़िया, तमिळ, तेलगु, मलयालम् एवं कन्नड़ भाषामें अनुवाद हो चुके हैं। तमिळ, तेलगु, मलयालम् और कन्नड-अनुवाद शीघ्र ही लिटिल फ्लावर कम्पनी, भरंगम् बील्डिङ्ग्स, ८ रंगनाथन रोड, त्यागराय-नगर, मद्राससे प्रकाशित हो रहे हैं। मराठी, गुजराती अनुवाद हो रहे हैं। इन भारतीय भाषाओंके अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच तथा रशियन भाषामें भी अनुवाद हो चुके हैं। ब्रजभाषाके अनुवादसहित यह पुस्तक १८ न० पैसेमें गीताप्रेससे मिलती है।

मानवके प्रति भगवान्‌की अभय वाणी

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी)

[गतांकसे आगे]

(१३)

मत डर

अरे प्रियतम, आनन्दके लाल ! केवल तू मेरा आश्रय ग्रहण कर, तेरे सब क्लेश दूर कर दूँगा ।

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव जनार्दन ।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥

तू अन्नाभावमें, जलाभावमें, अर्थ-कष्टमें, रोगमें, शोकमें रो रहा है ! अरे, यह मेरा ही आह्वान है—मैं ही तुझे बुला रहा हूँ । अविराम नाम ले, तेरी स्वप्नकी अश्रुधाराओंको भी पोंछकर मैं सत्य, परम आनन्दधामको ले चलूँगा ।

तू दिशा-दिशामें महाकालका विभीषिकामय ताण्डव देखकर काँप उठा है ! सुन—गिरिपात, भूकम्प, बाढ़ आदि उत्पात लोक-क्षयके कारण नहीं हैं । इन सब रूपोंमें मैं ही ध्वंसलीला करता हूँ । जिस प्रकार 'अनेक बनूँगा', 'जन्म धारण करूँगा ।' (यह सृजन) मेरी इच्छा है; उसी प्रकार नाश (संहार) भी मेरी ही इच्छा है । आज इसकी भी आवश्यकता है । मिथ्या प्रकाशके पीछे दौड़नेवाली विपथगामी हाहाकार-परायण संतान, लौट आ ! लौट आ ! इस अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशमालासे सुशोभित शान्तिमय शास्त्र-मार्गपर । अरे, मेरी सनातन शास्त्रविधिका त्याग करनेपर कभी किसी तरह सिद्धि, सुख और परम शान्ति नहीं मिल सकती । देख, नाम लेनेवाले भक्तका किसी प्रकार भी अशुभ नहीं होता । जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिका उसे भय नहीं रहता । श्रद्धा-अश्रद्धासे—जैसे भी मेरा नाम लेनेपर मैं तेरे कोटि-कोटि अपराध क्षमा कर दूँगा । नाम ले—नाम ले ।

मत डर, मत डर, मत डर !

(१४)

मत डर

अरे प्रियतम ! पापीके लिये तो मेरा नाम ही अवतार है । असंयमी लोगोंपर—काम-क्रोध-लोभ-मोहादिके खरीदे गुलामोंपर कृपा करनेके लिये ही तो मैं नामके रूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ । तू कितना भी पापी, कितना भी विषय-लोलुप क्यों न हो, तुझे कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं तेरे सारे पाप लेकर तुझे आनन्दमय बना दूँगा । तू केवल मुझे पकड़े रखनेकी चेष्टा कर । यह कर लेनेपर तुझे और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा । मैं ही तुझे आत्मसात् करके तेरे अंदर-बाहर नृत्य करता रहूँगा । केवल बोल—'हरे कृष्ण राम ।' बस, तेरे अहं, रोग, शोक, अभाव, दुःख, ज्वाला, नरकके तीनों द्वार—काम, क्रोध, लोभ सदाके लिये खो जायँगे । चारों ओरसे आनन्दकी प्राचीर उठेगी, पृथ्वी फोड़कर आनन्दके फौवारे निकल पड़ेंगे, आकाशसे आनन्दकी धारा फूट पड़ेगी । तू जिस गाँव, जिस नगर, जिस देशमें रहेगा, वहाँके नर-नारी आनन्द-सागरमें तैरते रहेंगे । मैं श्रद्धादि कुछ भी नहीं चाहता—कुछ भी नहीं चाहता । मेरे भंडारमें अक्षुण्ण श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम—सब है । तू केवल नाम ले, नाम ले ।

(१५)

मत डर

प्रियतम ! आनन्दके लाड़ले ! मेरा आश्रय ले लेनेपर अब तुझे किस बातकी चिन्ता है ? मैंने ही तो तेरा सारा भार ग्रहण कर लिया है । तूने क्या सुना नहीं ?

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥

मेरे भक्तोंके लिये किसी तरहका भी अशुभ टिक नहीं पाता । वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिके भयसे मुक्त है । तू और कोई भी चिन्ता मत कर । केवल मेरे नामकी रट लगा और मेरा ही चिन्तन कर । मैं अपने भक्तोंके कोटि-कोटि अपराध क्षमा किया करता हूँ । सुन-सुन, मेरी आखिरी बात सुन ।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । १० । ३२)

पहले एक मात्र मैं था । सत्-असत्—ऐसा कुछ भी नहीं था । इसके बाद यह विश्व-संसार, जो भी कुछ बना है, सब मैं ही हूँ । अन्तमें जो कुछ शेष रहेगा, वह भी मैं ही हूँ ।

तेरा रोग, शोक, अभाव भी मैं ही हूँ । तेरा दुःख, तेरी ज्वाला-यन्त्रणा सब मैं ही हूँ । तेरा मान, अपमान,

सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति भी—सब मैं ही हूँ। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें व्याप्त एकमात्र मैं ही हूँ। बहुरूपी मैं जगत्‌रूपमें अनन्त खेल किया करता हूँ। नाम-कीर्तन करते-करते मुझे पकड़ रख। पुरुषार्थका श्रेष्ठ रूप है—मेरा नाम-कीर्तन।

तू इसे निश्चय जान। मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारोंकी भाँति मेरा नाम भी अवतार है। मैं ही कलिपीड़ित जीवोंका उद्धार करनेके लिये नाम-रूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ। नाम-कीर्तन करना और मुझे प्राप्त करना—एक ही बात है। तू कितना ही बड़ा दुर्बल, महापापी, नारकीय, कामकिंकर क्यों न हो, मुझे किसी बातका भय नहीं। तू केवल नाम लिया कर। मैं मृत्यु-संसार-सागरसे तेरा उद्धार करूँगा, करूँगा, करूँगा। तू मुझे प्राप्त करेगा—करेगा, निश्चय ही प्राप्त करेगा। नाम-कीर्तन कर—नाम-कीर्तन कर—नाम-कीर्तन कर।

मत डर, मत डर, मत डर!

(१६)

मत डर

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

प्रियतम! मैं तो तुझे सतत पुकार रहा हूँ। तेरे रोग-शोक-दुःख, ज्वाला-यन्त्रणा, सारे अभाव दूर करके मैं तुझे परमानन्द-सागरमें सर्वदा डुबाये रखनेके लिये अन्तरके अन्तस्तलसे 'आ! आ!' कहकर प्रतिक्षण आह्वान कर रहा हूँ।

अरे मेरे आनन्दके लाड़ले! अब मुझे भूले मत रहना। अरे प्राणाधिक! संसार-तापकी मनोवेदनामें तू अकेला नहीं रो रहा है—मैं भी तेरे साथ रो रहा हूँ और कहता हूँ कि 'तू मुझे पुकार'—मैं तेरे सब दुःखोंका अवसान कर दूँगा, कर दूँगा, कर दूँगा! मैं जन्म-मरणमें सदा ही तेरा प्राणके समान नित्य सहचर हूँ, तेरा हृदयकमल ही तो मेरा नित्य निकेतन है। तेरा हृदय छोड़कर मैं क्षणमात्र भी नहीं रहता।

पुकार, पुकार—नाम ले, नाम ले। मेरा नाम तेरे भीतर-बाहर सब कुछ आलोकसे, पुलकसे, आनन्दसे भर देगा—मेरे नूपुर एवं वंशीध्वनि सुनता हुआ तू मेरा दर्शन प्राप्त करेगा—तू मुझमें डूब जायगा।

मैं हूँ, नामजापक मुझे देख पाता है, मैं भक्तको आत्मसात् कर लेता हूँ—यह ध्रुव सत्य है। केवल नाम ले—नाम ले—नाम ले।

मत डर, मत डर, मत डर!

खात-सोत-बैठत-उठत जपै जो मेरो नाम।
नियत, सपदि सो तरै भव, पावै मेरो धाम॥

(उठते-बैठते, खाते-सोते, जो सदैव मेरा नाम लेता है, वह तुरंत ही मुक्त हो जाता है।)

(१७)

मत डर

अरे वाञ्छिततम—आनन्दके दुलारे, प्यारे! पोंछ डाल, आँखके आँसू सब पोंछ डाल। तेरे रोग-शोक-दुःख, ज्वाला-यन्त्रणा, सारे अभाव दूर करनेके लिये ही मैं नामरूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ; मैंने ही मत्स्यरूपसे वेदोद्धार, कूर्मरूपसे मन्दरगिरि-धारण, वाराहरूपसे हिरण्याक्षवध और धरा-उद्धार, नृसिंहरूपसे हिरण्यकशिपु-संहार, वामनरूपसे बलि-बन्धन, परशुरामरूपसे इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय, रामरूपसे रावण-वध, बलराम-रूपसे प्रलम्ब एवं द्विविदका विनाश और श्रीकृष्णरूपसे धर्मसंस्थापन किया था। मेरी शरणागत-प्राणा द्रौपदीकी लज्जा निवारण करनेके लिये ही मेरा वस्त्रावतार हुआ था। असुर-मोहनके लिये मैंने बुद्ध-देह परिग्रह किया था। मैं ही जगन्नाथ, विश्वनाथ, वैद्यनाथ एवं रङ्गनाथ-रूपसे धरामें अवस्थान करके कोटि-कोटि पातकियोंका उद्धार कर रहा हूँ। वही मैं नामावताररूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ; आ-आ, कलि-पीडित जीव! तेरे ही लिये मैं नामरूपसे आया हूँ। ले-ले, नाम ले। त्याग, संयम, शुद्धाशुद्ध-विचार, देश-काल—किसी-की भी प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। जहाँ-तहाँ, जब-तब, जिस-किसी प्रकारसे भी नाम लेनेपर तेरे रोग, शोक, अभाव कुछ भी नहीं रहेंगे—तू परमानन्दमें डूब जायगा।

अरे, अरे प्रियतम! अरे, अरे आत्मविस्मृत! जैसे जल एवं जलकी तरङ्ग, सूर्य और सूर्यरश्मि, चन्द्र एवं चन्द्रकी किरण अभिन्न हैं, उसी प्रकार तद्रूप तुझमें एवं मुझमें कोई भेद नहीं है—तू मेरे हृदयपर ही खेल कर रहा है। ले-ले, नाम ले, नाम-कीर्तन करता लौट आ—अपने ही सच्चिदानन्द परम-स्वरूपमें। नाम ले, नाम ले, नाम ले।

मत डर, मत डर, मत डर!

तन्त्रमें वृक्षोंके चमत्कारी प्रयोग

(लेखक—डॉ० श्रीकैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एच्० बी० एच्० ए०)

'तन्त्र' शब्दका अर्थ जितना ही विस्तृत है, इतिहास भी उतना ही प्राचीन है। हिंदुओंका सर्वमान्य तथा प्राचीन ग्रन्थ वेद है, जिसे 'अपौरुषेय'—ईश्वरकी वाणी कहा जाता है। सृष्टिके आरम्भमें ईश्वरकी जो वाणी सुनी गयी थी, वही वेद है। चूँकि यह किसीके द्वारा लिखा नहीं गया था, वरं सुना ही गया है; इसीलिये इसे 'श्रुति' भी कहते हैं। वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व। इनमेंसे प्रत्येकके एक-एक उपवेद हैं। तन्त्र अथर्ववेदका उपवेद है। बादमें कुछ और तन्त्रोंका आविर्भाव हुआ, जिनमें भगवान् शिवके द्वारा वर्णित तन्त्र विशेष महत्त्वके हैं।

तन्त्रोंके विषयमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है पर यह सत्य है कि यदि हिंदु-शास्त्रोंमेंसे तन्त्र निकाल लिया जाय तो उनके पास कुछ नहीं बचेगा। आज जितनी भी पूजा, साधना इत्यादि होती हैं, उनमेंसे केवल कुछको ही छोड़कर शेष सभी तन्त्रोक्त पद्धतिपर आधारित हैं। 'महानिर्वाणतन्त्र'में आगमोक्त विधानको ही कलिकालमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। तन्त्रका अनुसरण कर न जाने कितने ही सिद्ध पुरुष हो गये, जिनके पास अलौकिक शक्तियाँ थीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस इसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पर तन्त्रके साधकोंको कभी भूलकर भी मारण, मोहन, उच्चाटन और विद्वेषणका प्रयोग नहीं करना चाहिये। वाममार्गकी साधना भी नहीं करनी चाहिये। ये सब बड़े खतरनाक हैं।

तन्त्रयोगमें शरीर और ब्रह्माण्डका जितना अद्भुत साम्य दिखाया गया है, वह अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'को केवल पुस्तकोंमें ही सीमित नहीं रक्खा गया, वरं इसका प्रत्यक्षीकरण पिण्ड और ब्रह्माण्डमें करके तब इसे पुस्तकोंमें सूत्ररूपसे लिखा गया। इसी प्रकारका गहन विचार वर्णाक्षरों तथा उनके सम्मिलनसे बने विभिन्न शब्दों एवं उनके द्वारा उत्पन्न ध्वनिके विषयमें भी किया गया। प्राचीन शास्त्रकारोंका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिये हर एक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमें वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति रहती है। यही मन्त्रोंका रहस्य है।

तन्त्रका उद्देश्य जीवको शिव-स्वरूप बनाना है। जीव और शिवकी व्याख्या कुलार्णवतन्त्रमें इस प्रकार दी गयी है—

घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥

पर सभी वस्तुओंके सब अधिकारी नहीं होते। सभी लोग न तो मुक्ति पानेके अधिकारी होते हैं और न सभी लोग सब तरहके विधानोंके जाननेके ही। साधनाको इसीलिये गुप्त रखनेका आदेश है—

'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।'

और—

'Hold fast in silence what is your own lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever.'

अनधिकारी व्यक्ति मुक्तिमार्गमें तन्त्रोक्त साधनासे प्रवेश न करें। इसीलिये शिवजीने उनके सांसारिक सिद्धि-लाभके लिये षट् प्रयोगों तथा अन्यान्य प्रयोगोंकी रचना की।

तन्त्रमें जिस प्रकार सभी वस्तुओंके विभिन्न प्रयोगोंका वर्णन है, उसी प्रकार वृक्षोंसे भी विभिन्न सिद्धिलाभ प्राप्त करनेका वर्णन है। यद्यपि औषधीय विज्ञानमें वृक्ष और उनके अवयवोंके उपयोगका विभिन्न प्रकारकी चिकित्सा-प्रणालियोंमें वर्णन है, पर सांसारिक सिद्धि-लाभका उपयोग एकमात्र तन्त्र ही बतलाता है। हम यह ऊपर पहले ही कह चुके हैं कि जो कुछ पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें भी है। पर इतना ही नहीं, अपितु संसारके प्रत्येक पदार्थका किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्माण्डके दृश्य और अदृश्य लोकों तथा उनके प्राणियोंसे सम्बन्ध है। इसलिये जब किसी वस्तु-विशेषको किसी विशेष विधानके अनुसार किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिये काममें लाया जाता है, तब वह उक्त कार्यकी भी सिद्धि कराता है। मन्त्र-विशेष जो उक्त कार्यमें प्रयुक्त होता है, उसका भी अपना विशेष प्रयोजन और महत्त्व है, जिसके सिद्ध न होनेपर कार्य सफल नहीं होता। ग्रह-नक्षत्रोंके पृथ्वी और उनके प्राणियोंसे सम्बन्धकी स्थूल बातें तो हम सभी देखते

हैं। सूर्यके धब्बोंका पृथ्वीपरके आँधी-तूफानका सम्बन्ध, रेडियो-तरंगके प्रसारणकी बाधा, रोग, भूकम्प इत्यादि तथा चन्द्रमाके घटने-बढ़नेके साथ बीमारियोंका सम्बन्ध, पूर्णचन्द्रके आकर्षणसे समुद्रमें ज्वार आना—सभी कुछ देखे जाते और विज्ञानसम्मत हैं; पर विज्ञान अन्तरपक्षके अनेक रहस्योंको अभीतक सुलझा नहीं सका है।

यहाँ हम अति प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थोंसे तन्त्रशास्त्रमें वृक्षोंद्वारा प्राप्त सिद्धियोंका संक्षिप्त वर्णन करेंगे। स्मरण रहे कि ईश्वरकी तीनों शक्तियाँ—इच्छा, ज्ञान और क्रिया जिस प्रकार सृष्टिकी रचना करती हैं, उसी प्रकार साधनामें भी ये तीनों तत्व आवश्यक हैं। ज्ञान होते हुए भी क्रिया तबतक फलवती नहीं होती, जबतक कि उसके साथ तीव्र इच्छाशक्तिका संयोग न हो। तीव्र इच्छाशक्ति भी तभी उत्पन्न होगी, जब कि प्रयोगमें श्रद्धा और विश्वास हो। संत तुलसीदासजीने ईश्वरको इसीलिये श्रद्धा और विश्वासका रूप कहा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

इसलिये निम्नलिखित प्रयोगोंमें ही नहीं, बल्कि समस्त साधनाओंमें ये तीनों शर्तें अनिवार्य हैं। केवल चमत्कार देखने-जैसा खिलवाड़ करनेसे अथवा तमाशेके लिये आजमाइश करनेसे प्रयोगकर्ताको असफलता ही हाथ लगेगी, इतना स्मरण रहे।

विषका पूर्व प्रतीकार करना

(१) मेषके सूर्यमें एक मसूर दो नीमके पत्तेके साथ खानेसे एक वर्षतक सर्पका भय नहीं रहता। तक्षक भी क्रोध कर उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

(२) श्वेत विष्णुकान्ताका फल और मूल दोनों पीसकर पान करनेसे सर्प-विष दूर हो जाते हैं। यह अमृतयोग शिवजीका कहा हुआ है। प्रणवसहित बाजेपर इसका लेप करे। इस योगसे बाजेको सुनकर विषसे भरा हुआ मनुष्य जाग उठता है।

(३) श्वेत पुनर्नवाको चावलके पानीके साथ अच्छे मुहूर्तमें जो पीता है, उसे सर्प काटनेका भय नहीं होता। यदि मोहवश सर्प काट भी ले तो स्वयं नष्ट हो जाता है।

(४) आषाढ़ शुक्ल पञ्चमीके दिन जो अपनी कमरमें सिरिसकी जड़ बाँधता है तथा चावलका पानी पीता है, उसे सर्पदंशका भय नहीं होता। काटनेपर सर्प स्वयं नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त चारों प्रयोगोंको निम्नलिखित मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर ग्रहण करे और मन्त्रको ग्रहण या दीपावलीमें सिद्ध कर ले।

मन्त्र—'ॐ नमो भगवते उड्डामरेश्वराय कंचितामृतमर्चंत जटाय ठः ठः स्वाहा।'

(५) जब अमावस्या रवि, मंगल या शनिवारको पड़े तो उस दिन जिस समय आमपर बौर देखे, उसे उसी समय तोड़कर हाथमें खूब मल ले। इसके प्रभावसे केवल हाथ मलकर सुँघानेसे बिच्छूका विष तत्काल उतर जाता है। इस तन्त्रका प्रभाव एक वर्षतक रहता है।

प्रेत-निवारण

(१) रविवारको काले धतूरेकी जड़ बाँहमें बाँधे तो भूत-बाधा जाय और फिर कभी न सतावे।

(२) लहसुन एकड़ियाके रसमें हींग पीसकर भूत-ग्रस्तको सुँघावे या अंजन करे तो भूत-बाधा जाय और फिर न सतावे।

(३) रविवारको तुलसीपत्र, काली मिर्च प्रत्येक आठ-आठ तथा सहदेइयाकी जड़ लाकर तीनोंको ताँबेके यन्त्रमें भर धूप देकर धारण करनेसे भूतादिक दूर हो जाते हैं।

(४) नीमके पत्र, वच, हींग, साँपकी केंचुली और सरसों—इनको पीसकर धूनी दे तो सभी प्रकारके भूतादि दूर हो जाते हैं।

(५) मुंडी, गोखरू और बिनौला समभाग लेकर गोमूत्रमें पीसकर ब्रह्मराक्षस-ग्रसितको सुँघावे तो निर्दोष हो।

(६) रविवारको विधिपूर्वक शंखाहूलीकी जड़ लाकर चावल या घृतके संग ब्रह्मराक्षस-ग्रस्तको सुँघावे तो निर्दोष हो।

तन्त्रमें बंदेके प्रयोग और सिद्धियाँ

बंदा प्रत्येक वृक्षपर उत्पन्न होता है। बिहारमें इसे बाँझा कहते हैं। आम और बेरका बंदा तो आसानीसे देखा जा सकता है। आमके बंदेकी पत्तियोंको पशुओंको खानेके

लिये दिया जाता है, शेष लकड़ी जलानेके काम आती है। आयुर्वेदशास्त्रमें चिकित्साके लिये एकाध प्रकारके बंदेके उपयोगका निर्देश है जैसे बेरके बंदेको पीसकर दहीमें मिश्रित कर खानेसे आमाशय (Dysentery) ठीक होता है। इत्यादि-इत्यादि। तन्त्रको छोड़कर अन्य किसी भी विज्ञानने इसके उपयोगपर विस्तार और गम्भीरतासे विचार नहीं किया। तन्त्रशास्त्र बतलाता है किन वारों (दिनों) को, किन नक्षत्रों तथा तिथियोंके योगमें किस वस्तुमें किस प्रकारका प्रभाव आ जाता है। मन्त्रद्वारा इसी प्रभावको शतगुणित, सहस्रगुणित किया जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुएँ, समस्त कार्य एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं तथा एकमें कोई प्रभाव या परिवर्तन होनेपर उसकी लहरें ब्रह्माण्डके ओर-छोरतक पहुँच जाती हैं। अस्तु! इस प्रकारके लेखोंके लिखनेका मेरा एकमात्र उद्देश्य यही है कि भारतकी ये गुप्त विद्याएँ लुप्त न हो जायँ और सत्यान्वेषकोंद्वारा इनका वास्तविक उपयोग हो।

बंदा हर वृक्षपर उत्पन्न होता है, पर यह नियम नहीं है कि अवश्य होगा। इसमें तीन भेद हैं एक बच्चेका जो शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरा युवाका जो विधिपूर्वक यत्नसे सिद्ध होता है और तीसरा वृद्धका जो सिद्ध नहीं होता। सिद्ध किया भी जाय तो कार्य नहीं होता।

लक्ष्मीके लिये आमका बंदा

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको आमके बंदेको धान और रोलीसे निमन्त्रण दे आवे। दीपावली (अमावस्या) के दिन उसका दूध और बताशाकी बलि तथा देवदारुकी धूप देकर पूजन करे। फिर वृक्षको नमस्कार कर नंगा (तान्त्रिक विधानमें जहाँ नंगा होना लिखा है वहाँ धोतीका काछामात्र खोले।) हो सूर्योदयसे पहले तोड़ लावे। समस्त कार्यके समय निम्नलिखित मन्त्रका जप करे—

मन्त्र—'ॐ वृक्षराज महाश्रीमन् विष्णुसुख सनातन। धनधान्यसमृद्धिं श्रीं देहि मे अचल प्रभो।'

रात्रिको दीपावली-पूजन करके एकान्तमें बंदेका पाँचों प्रकारसे पूजन करे, शेष रात्रिमें उपर्युक्त मन्त्रका पाठ करे। फिर प्रातःकाल स्नान करके उस बंदेको धूप देकर यन्त्रमें धरकर पास रक्खे तो लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। धन अक्षय रहता है। लक्ष्मीमन्त्रका सम्पुट देकर विष्णुसहस्रनामका १०८ पाठ करने तथा दस दिनोंबाद हवन करनेसे एक वर्षतक तन्त्र पूर्ण जाग्रत् रहता है।

जीविका-प्राप्तिके लिये पीपलका बंदा

जब अपना चन्द्रमा बली हो तब रिक्ता तिथि (शनिवारको ४, ९, १४ तिथि पड़े तो वह रिक्ता तिथि होती है) के एक दिन पहले संध्याकालको वृक्षराजको निमन्त्रण दे आवे तथा शनिवारको सूर्योदयसे पहले बंदेको तोड़ लावे और तबसे दूसरी रिक्ता तिथि पड़नेतक बंदेकी नित्य पाँचों प्रकारसे पूजा करे। फिर उस दिन निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर यन्त्रमें धर धूप देकर पास रक्खे तो बिना परिश्रम जीविका प्राप्त होती है।

मन्त्र—'मूले ब्रह्मा त्वचि विष्णुः शाखासु च महेश्वरः।
पत्रे पत्रे देवनाथो वृक्षराज नमोऽस्तु ते॥
वृक्षराज नमस्तुभ्यं महाकाय शिखाप्रिय।
सर्वरोगविनाशाय देहि बांदमनामयम्॥'

पलाशके बंदेकी विधि

होलिकाके एक दिन पहले संध्या-समय निमन्त्रण दे प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले फूल-अक्षत चढ़ाकर देवदारुका धूप और मोदककी बलि दे। निम्नलिखित मन्त्रको १०८ बार पढ़कर अन्न-स्थानमें स्थापित करे तो धान्य परिपूर्ण रहता है।

मन्त्र—'ॐ वृक्षराज समृद्धस्त्वं त्रिषु लोकेषु वर्तसे।
कुरुष्व धान्यवृद्धिं त्वं क्षेत्रे कीटौघवर्जिते॥'

गूलरके बंदेकी विधि

ग्रहण पड़नेके एक दिन पहले बंदेको निमन्त्रण दे आवे, फिर ग्रहणके दिन सूर्योदयसे पहले शर्बत और हलुआकी बलि देकर नमस्कार कर तोड़ लावे; पश्चात् ग्रहण लगते ही बंदेका पाँचों प्रकारसे पूजनकर ग्रहणपर्यन्त लक्ष्मी-गायत्रीका जप करे कमलाक्षकी मालासे। इसे सुवर्ण यन्त्रमें धरकर शिखामें बाँधनेसे भूमिस्थ धन दृष्टि पड़ता है और हाथ लगता है।

धनधान्य-अक्षयकरण तन्त्र

(१) इमलीका बंदा पुष्य नक्षत्रमें रविवारको प्रातः ले आवे। शनिवारको निमन्त्रण दिये रहे। इसकी धूप-

दीपसे पाँचों प्रकारसे पूजनकर इस मन्त्रको एक सहस्र जप-कर अन्न-धनमें धरे तो लक्ष्मीकी वृद्धि होती है।

(२) पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें अनारका तथा सेमरका बंदा रखनेसे धन अक्षय होता है।

(३) मघा नक्षत्रमें बहुआर (हरसिंगार) वृक्षका बंदा लाकर धान्यमें रखनेसे अवश्य ही धान्य अक्षय होता है।

(४) हस्त नक्षत्रमें निर्गुंडी (शिखार) का बंदा ग्रहणकर धान्यमें रखनेसे धान्य अक्षय होता है।

(५) भरणी नक्षत्रमें कुशका बंदा लेकर स्थापन करनेसे सम्पूर्ण धन-धान्य अक्षय हो जाता है।

(६) रोहिणी नक्षत्रमें गूलरका बंदा ग्रहणकर स्थापन करे तो धन-धान्य अवश्य अक्षय होता है।

सभी तन्त्रोंमें निम्नलिखित मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये—

मन्त्र—'ॐ नमो धनदाय स्वाहा।'

इसे प्रथम दस सहस्र जपकर सिद्ध कर ले, तब कार्य करे।

अदृश्य होनेका तन्त्र

(१) अनुराधा नक्षत्रमें रोहितकका बंदा ग्रहण कर मुखमें रखनेसे मनुष्य निःसंदेह अदृश्य हो जाता है।

(२) मृगशिरा नक्षत्रमें शाखोट (शिंघोर) वृक्षका बंदा पानद्वारा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

(३) भरणी नक्षत्रमें कपासका बंदा लेकर हाथमें बाँधनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

(४) स्वाती नक्षत्रमें नीमका बंदा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

(५) अश्विनी नक्षत्रमें बेलका बंदा हाथमें धारण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

(६) मृगशिरा या उत्तराषाढ़में अशोक वृक्षका बंदा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

उपर्युक्त सभी तन्त्रोंमें निम्नलिखित मन्त्रका प्रयोग करे—

मन्त्र—'ॐ नमो भगवते रुद्राय मृताकंमध्ये संस्थिताय मम शरीरमदृश्यं कुरु कुरु स्वाहा।'

दस सहस्र जपसे मन्त्र सिद्ध होता है। सिद्ध करके तब कार्य करे।

विविध बंदाउली-सिद्धि

(१) कृत्तिका नक्षत्रमें थूहरका बंदा हाथमें धारण करनेसे वाक्सिद्धि होती है।

(२) स्वाती नक्षत्रमें बेरका बंदा लेकर हाथमें धारण कर मनुष्योंसे जो भी प्रार्थना करे, वह सब प्राप्त कर सकता है।

निम्नलिखित मन्त्रसे ग्रहण करे—

मन्त्र—'ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा। ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा।'

(३) शाखोट (शिंघोर) का बंदा, आमका बंदा, गोखरू और लवण चौथाई भाग लेकर दूधमें पीसे और उसीका मस्तकपर तिलक करे तो सब गुप्त प्रकाश हो जाता है। जहाँ धनादिक हों या गुप्तवेश गन्धर्व, यक्षिणी, यक्षादि जो कोई भी लोकमें स्थित हों, सब प्रकट हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं।

(४) अश्लेषा नक्षत्रमें शनिवारके दिन सायंकाल जब मङ्गल अष्टम हों, अनारके बीजका रस, कमलकी जड़ एवं शतावरीका रस ग्रहण कर, उससे शुद्ध कर अंजन बनाकर लगावे तो सब पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

(५) वट-वृक्षका बंदा रोहिणी नक्षत्रमें ग्रहण कर जो हाथमें धारण करे तो, वह सबको वशीभूत कर सकता है। ऐसा विश्वामित्रने कहा है।

(६) जब कृत्तिका नक्षत्र मङ्गलवारयुक्त हो तब एक दिन पूर्व निमन्त्रण देकर उक्त तिथिको नंगा होकर कइथका बंदा लावे। इसे विधिसे मुखमें रखकर कहीं जाय तो उसको शस्त्र न लगे।

बटका तान्त्रिक प्रयोग

बर नीचे बर देखिकै ताको न्योते जाय।
दीप-दान को लाइये, अधरात्रि लै ल्याय॥
न्हाय धोय अरु नग्न है, खेवै धूप लगाय।
पीछे वाको लीजिये मनमें प्रीति बढ़ाय॥
घरमें पोत धराइये, अन-धन कोठी माहिं।
देव इष्ट जो पूजिये, रहै लक्ष्मी घर माहिं॥

बहुधा तन्त्रोंपर आक्षेप किया जाता है कि इसके प्रयोग सिद्ध नहीं होते या कार्यकारी नहीं होते, पर यह सर्वथा असत्य है। वस्तुतः इनके सम्बन्धकी पूर्ण जानकारी बहुतोंको नहीं है। उपर्युक्त प्रयोगोंमेंसे कई प्रयोग इन्द्रजालकी प्रकाशित पुस्तकोंमें मिल जा सकते हैं, पर उनमें अन्य बातोंका अभाव रहता है। इसलिये वे सफल नहीं होते और साधक निराश होकर उन्हें निरर्थक समझने लगता है। इन प्रयोगोंमें सिद्धि क्यों नहीं मिलती—इसका एक और कारण है। उस कारणका पता सौभाग्यवश मुझे एक प्राचीन ग्रन्थमें मिला। उसके अनुसार तन्त्र-सिद्धिके इच्छुकको दत्तात्रेय मन्त्र और यन्त्रको पहले सिद्ध करना चाहिये। इससे तन्त्रकी सिद्धि होती है। पाठकोंके लाभार्थ उक्त मन्त्र और यन्त्र नीचे दिया जा रहा है—

मन्त्र—'ॐ परब्रह्मपरमात्मने नमः उत्पत्तिस्थिति-प्रलयकारिणे ब्रह्महरिहराय त्रिगुणात्मने सर्वकौतुकानि दर्शय दत्तात्रेय नमस्तन्त्राणां सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।'

इसे दीपावली या ग्रहणमें सिद्ध कर ले तथा तान्त्रिक प्रयोगके पहले इसका जप करे। यन्त्र निम्नलिखित है—
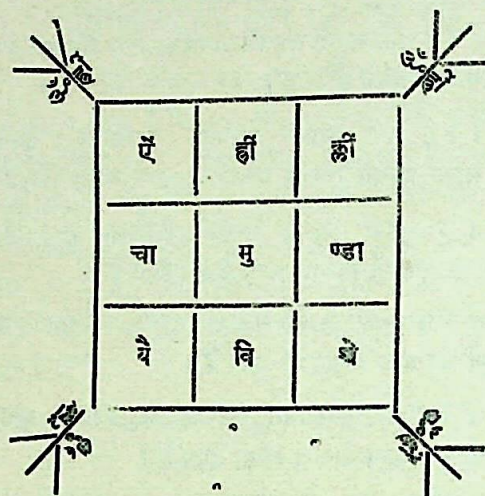
इस यन्त्रसे तन्त्रकी सिद्धि होती है। इसे शुभ मुहूर्तमें लिखकर सिद्ध कर ले तथा भोजपत्रपर रक्तचन्दनसे लिखकर यन्त्रमें भरकर पहिने।

प्रणवका प्रसार

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

प्रणव अर्थात् ॐ, तीन अक्षरों—अ, उ, म्‌का संयुक्त आकार है। अ और उ की संधिसे ओ बना और म्, ँ इस रूपमें उसपर रक्खा गया, जिसको नाद-बिन्दु कहते हैं।

इन अक्षरोंका रहस्यिक अर्थ ऐसा है—

(अ) = 'अव्यते' अर्थात् 'रक्षते'; जगत्‌की रक्षा करनेवाले सत्त्वगुण-युक्त विष्णु-वाचक।

(उ) = 'उष्यते' अर्थात् 'हन्यते'; जगत्‌को हनन करनेवाले तमोगुणयुक्त शिववाचक।

(म्) = 'मन्यते' अर्थात् 'सृज्यते' जगत्‌का सृजन करनेवाले रजोगुण-युक्त ब्रह्मा-वाचक।

अव, उष, मन्—धातुओंके आदि वर्णोंसे ॐ बना है। सुतरां, ॐ कहनेसे सृष्टि, स्थिति और लयके महाकारण परमात्मा सूचित होते हैं।

यही एक अक्षर मनुष्यके जीवनमें जन्मसे मृत्युतक साथ रहता है।

जन्म लेते ही बालक जब रोता है, तब उसके मुखसे स्वतः ॐ, ॐ, ॐ की आवाज निकलती है और अन्तिम कालमें, सौभाग्य हुआ तो ॐ उच्चारण करते हुए शरीरका त्याग करता है और परम गतिको प्राप्त होता है। सो यह अक्षर जन्म-मरणका साथी है।

कठोपनिषद्‌में यमराजने नचिकेताको इस अक्षरके सम्बन्धमें कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(१। २। १५—१७)

सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते हैं, जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह पद है 'ॐ'। यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह

अक्षर ही परम है, इस अक्षरको जानकर जो इसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।

यही (ॐ) श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।

माण्डूक्योपनिषद्में तो इसे उस कोटितक पहुँचा दिया है जिसके परे और कुछ कहना ही नहीं है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। 　　(गौ० का० १)

—ॐ नामक यह अक्षर, यह समस्त परिदृश्यमान जगत् है। उसका उपव्याख्यान—स्पष्ट कथन आरम्भ होता है। भूत, भविष्य और वर्तमान—यह सब ॐकार है। त्रिकालके अतीत भी जो कुछ है वह भी 'ॐ' है।

भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(१७। २३–२४)

ॐ तत् सत्—इस वाक्यके द्वारा ब्रह्मका त्रिविध नाम निर्दिष्ट होता है। इस त्रिविध निर्देशसे पूर्वकालमें यज्ञके कर्त्ता ब्राह्मण, यज्ञके कारण वेद और यज्ञ-क्रियाका निश्चय हुआ था।

इसलिये 'ॐ' यह ब्रह्मवाचक शब्द उच्चारण करते हुए ब्रह्मवादी शास्त्रके अनुसार यज्ञ-दान-तपस्यादि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं।

यह भी नियम है कि वेदमन्त्रोंके आदिमें 'ॐ' का उच्चारण अवश्य किया जाय, कभी-कभी अन्तमें भी इसका उच्चारण उदात्त, प्लुत स्वरसे करनेका विधान है।

गायत्री-मन्त्र वेदमन्त्र है, इसलिये इसके आरम्भमें प्रणव-सहित व्याहृतियोंका उच्चारण करनेकी विधि है और अन्तमें ॐ।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ॐ भगवान्‌का सबसे प्रिय नाम है। इस नामसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। इस एक नाममें परमात्माके अनेक नामोंका समावेश है।

'ॐ' अक्षरमें तीन मात्राएँ हैं—अ, उ, म्। प्रत्येक मात्रामें परमेश्वरका एक नाम है। जैसे अ=विराट् जो कि विभिन्न प्रकारसे जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। उ=हिरण्यगर्भ, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थ जिनके 'गर्भ' में हैं। म्=ईश, प्राज्ञ, आदित्य, आनन्द। जैसे परमात्माके गुण अनन्त हैं, वैसे ही ॐ के अर्थ भी अनन्त हैं। संक्षेपमें ॐ परमात्माका नाम होनेके कारण इसके अर्थ हैं—सर्वरक्षक, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, प्रकाशक, पापविनाशक, भगवान्, तृप्तिकारक, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप इत्यादि।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि—

तस्य वाचकः प्रणवः—प्रणव उस ईश्वरका वाचक है। तज्जपस्तदर्थभावनम्—उसके अर्थका चिन्तन, मनन, ध्यान और धारण करना चाहिये। यही उस नामका जप है।

माण्डूक्य उपनिषद्में ॐकारकी उपासनाविधिमें बताया है कि परमात्मा और जीवात्माकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था ॐकारकी अ, उ, म्, तीन मात्राएँ और परब्रह्म ॐकारकी अमात्र—मात्राहीन चौथी अवस्था है। इसी रीतिसे गायत्री-मन्त्रके आरम्भमें जो ॐ है, उसे मनमें धारणकर गायत्री-जप करना चाहिये। तीन अक्षरयुक्त ॐ और उसकी चौथी अवस्थाकी जानकारीकी विधि भी ॐ की उपासना-विधि है, इसके सिवा मोक्षकी कोई दूसरी गति नहीं है। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

ॐकार सृष्टिकी आद्यावस्था है। इसका गम्भीर निर्घोष ब्रह्माण्डको छाये हुए है। जो मनन करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है।

योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यथा वै मधु पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसाद् यथा।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते॥

जैसे मधु फूलोंका सार है, घी दूधका सार है, वैसे ही गायत्री सब वेदोंका सार है।

और ॐ गायत्रीका सार है। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' ॐ—यह एक अक्षर ही ब्रह्म है और वे स्वयं ॐ है और तीनों वेद भी—'वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च।' अतएव ॐकार मनुष्य-जीवन सफल बनानेका प्रधान मन्त्र है।

आजकी सबसे बड़ी समस्या—'अनास्था'

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

केवल भारतवर्ष ही नहीं, आज सारे संसारमें विश्रृङ्खलता व्याप्त है । भूख-प्यासके साथ-ही-साथ अराजकता और अत्याचार भी फैल रहा है । चारों ओर त्रास है, आशंका है, भय है, स्पर्द्धा है । एक राष्ट्रसे लेकर एक व्यक्तितक सब इसी संक्रामक रोगसे पीड़ित हैं । वैज्ञानिक उपलब्धियोंके द्वारा मानवताको सकुशल रहनेमें खतरा है ।

प्रश्न उठता है, ऐसा क्यों ?

इसका एकमात्र उत्तर है—'अनास्था' । व्यक्तिसे राष्ट्रतक सभी इसी अनास्थासे आक्रान्त होकर मृत्यु और विनाशकी ओर दौड़ रहे हैं । यह अनास्था सर्वाङ्गीण है । मनुष्यकी अनास्थाकी पराकाष्ठा वहीं हो जाती है, जब वह स्वयंमें भी अनास्था रखने लगता है । इसीसे पग-पगपर आशंकाका जन्म होता है और अविश्वास-जनित दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है । इन सभी अनास्थाओंसे बढ़कर है—ईश्वर और धर्ममें अनास्था । आज तीव्रतासे विश्व-सरकारकी बातें होती हैं, परंतु एक ऐसी सर्वोच्च सत्ताको नहीं मानते, जिसको ऋषियोंने अनुभवके आधार-पर स्वीकार किया था, जिसका शासन सृष्टिके प्रत्येक अणुपर माना जाता था और जिस शक्तिके भयसे सब लोग 'अधर्म' और 'अन्याय' करनेमें डरते थे । साथ-ही-साथ धर्मके यम-नियम, नीतियाँ-रीतियाँ चारों ओरसे हमारे जीवनको संतुलन, सुश्रृङ्खलित और मर्यादा प्रदान करती थीं । उसी सत्ताका अंश होनेसे हममें समत्व-दर्शन और निर्भयताका भाव जगता था और प्रोज्ज्वल आत्मासे हम सहज ही पीयूष-पथके निःशंक पथिक बनते थे । हमारा एक-एक कदम मानवताका पथ-निर्माण करता था और हम जगत्‌के प्रत्येक मानव कल्याणके एक-एक स्तम्भ थे । आज क्या कारण है—हम शान्त नहीं हैं ! हम सदाचारी और न्यायी नहीं हैं ! हम अपरिग्रहका परित्याग कर महासंग्रहकी ओर प्रयत्नशील हैं ? हमारा संतोष नष्ट हो चुका है और हम अर्थकी नित्य अपूर्ण लिप्सामें, भौतिक प्रगतिकी दानवी कृतिमें न्याय और सदाशयताकी आहुति दे रहे हैं ?

धर्मने कभी यह आज्ञा नहीं दी है कि करोड़ों लोगोंकी रोटियाँ व्यक्तिविशेषोंकी भोग्य बन जायँ । यह भोगसम्पत्ति चाहे एक व्यक्तिविशेषकी हो, चाहे राष्ट्र या सरकारविशेषकी । सम्पूर्ण पृथ्वीपर सभीको जीवन-यापन और जीवन-सुख प्राप्त करनेका सहज अधिकार है । किसीको क्लेश देकर स्वयं सुख भोगना न्याय नहीं है । फिर आज केवल अर्थपिशाच बने हुए लोग जिस किसी भी बुरे-से-बुरे साधनके द्वारा अर्थ-संचयमें क्यों लगे हैं ?

इन सबका एक ही कारण है,—'ईश्वर और धर्मके प्रति अनास्था ।' दुर्भाग्यसे हमारी सरकारने हमारे राष्ट्रको 'धर्म-निरपेक्ष' बनाया है । धर्म-निरपेक्षता कोई शब्द नहीं है, न इसमें कोई अर्थ है । साम्प्रदायिक निरपेक्षता कुछ समझमें आती है । धर्म-निरपेक्षताका तो अर्थ होता है—'अभ्युदयसे निरपेक्षता' या 'सत्य, न्याय और सदाचारसे निरपेक्षता' । 'धर्म-निरपेक्षता'के पालनके लिये धार्मिक शिक्षाएँ बंद कर दी गयीं, जो चरित्र-गठनके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं । कोई भी धर्म किसी भी व्यक्तिसे विद्वेष या घृणाकी शिक्षा नहीं देता । सत्य, निष्ठा, करुणा और सदाचार सभी धर्मोंका आदेश है । सनातनधर्म तो प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थमें ईश्वरको देखता है और उसे पूज्य मानता है ।

क्षमा, प्रेम, करुणा, दान, दया और पवित्रता सनातन-धर्मके भूषण हैं। न्याय इसका मेरुदण्ड है और सत्य साक्षात् परमात्मास्वरूप। ऐसे उत्तम सिद्धान्तोंकी अवहेलना किसी भी राष्ट्र या समाजको विनष्ट करती है।

भारतीय संस्कृतिकी सनातन परम्परा आज टूट रही है, विदेशी संस्कृति अनुकरणीय हो गयी है। आत्माकी भाषा भुलाकर हम आसुरी अनात्मभाषाकी नकल करते हैं। आज गौतम, कपिल, कणाद आदि हमारे आदर्श नहीं रहे, प्रत्युत हमारे आदर्श हैं आइन्सटिन, मार्क्स और फ्रायड। हम रामकृष्ण-विवेकानन्दकी वाणीमें नहीं, हिगेल और इमर्सनकी वाणीमें तृप्ति खोजते हैं।

अनास्थाकी चरम प्रशस्ति हमें कहाँ ले जायगी, कहा नहीं जा सकता। भौतिकवादी उत्थान हेय नहीं है, परंतु वह होना चाहिये—अध्यात्मयुक्त। ईश्वराभिमुखी अर्थ-संग्रह हेय नहीं है, यदि उसका उपयोग प्राणिसेवा, परोपकार, दानशीलता, करुणा, वत्सलता और 'वसुधैव कुटुम्बकम्'में हो। महाराज अशोक और महाराज हर्ष भी एक उदाहरण हैं। आजके लोग भी उदाहरण हैं। आज लोग भूखों तड़प रहे हैं और एक दिन था कि राजा दिलीप एक गायकी रक्षाके लिये अपना प्राण अर्पित करनेको प्रस्तुत थे।

अब प्रश्न है कि इस बढ़ती हुई अनास्थाको कैसे समाप्त किया जाय, जो भोजनकी भाँति ही परमावश्यक है। ईश्वर और धर्मके प्रति आस्था कैसे उत्पन्न की जाय? इस अनास्थाका उन्मूलन होते ही भ्रष्टाचार और अन्याय दूर हो जायँगे और समाजमें सुख-शान्ति स्थापित होगी एवं राष्ट्र सुदृढ़ और समृद्ध होगा।

इसके लिये निम्नलिखित कुछ सुझाव हैं—

(१) ईश्वर और धर्ममें आस्थाके लिये विद्यालयोंके पाठ्य-क्रमोंमें धार्मिक पाठ प्रारम्भ किया जाय तथा पाठ्य-पुस्तकोंमें हमारे आदर्श पुरुषोंके पुण्य-चरित्रोंको स्थान दिया जाय।

(२) शिशुओंको नैतिक और चारित्रिक गठनके लिये सफल अभ्यास कराये जायँ।

(३) देवालयोंको पूजा-अर्चनाके साथ-साथ सार्वजनिक कार्योंका केन्द्र बनाया जाय।

(४) भेद-भाव त्यागकर असम्प्रदायवादी आधारपर सनातनधर्मका प्रचार किया जाय तथा सनातन-संस्कृतिको फिरसे प्राणवान् बनाया जाय।

(५) न्याय, सत्य, सदाचार और निष्ठाको सर्वत्र प्रोत्साहन दिया जाय।

(६) शोषण और भ्रष्टाचारको सबसे बड़ा अपराध माना जाय।

(७) अर्थपति अपने धनद्वारा धर्म और जनकी बिना किसी यश या प्रचारकी लालसासे सेवा करें और संगृहीत समस्त अर्थका स्वेच्छया सदुपयोग करें।

(८) जीवनमें व्याप्त छोटी-छोटी अनैतिकताओंको भी प्रयत्नपूर्वक हटाया जाय।

(९) खाद्यपदार्थोंमें चोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि न हो और तौलकी प्रामाणिकता आदि कायम रक्खी जाय। सरकारी कर्मचारी लोभवश ऐसे कार्योंमें सहायक कदापि न बनें। वे लोभका त्याग करके सत्यका संरक्षण करें।

(१०) धर्म-निरपेक्षताको साध्य नहीं माना जाय और सांस्कृतिक उत्थानको और भी प्रोत्साहन दिया जाय।

उपर्युक्त सुझाव केवल उपचार है। हमारे दृढ़ निश्चय, परमात्मापर विश्वास तथा सतत अभ्याससे ही यह अनैतिकता दूर होगी। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है लोगोंमें अभय भाव और भगवान्‌के प्रति विश्वास उत्पन्न करना। ऐसा नहीं हुआ तो राष्ट्र और समाजकी रक्षा अब असम्भव-सी ही प्रतीत होती है।

बोलना भी एक कला है

(लेखक—डा० श्रीरामदयालजी भार्गव)

हम जो भी शब्दोंका उच्चारण करते हैं, वे हमारे कण्ठकी स्वर-तन्त्रियोंसे प्रतिध्वनित होकर एवं बाहर वायुमण्डलमें प्रसरित होकर दूसरोंके पास पहुँचते हैं तथा वायुमण्डलमें निरन्तर बने रहते हैं। उनके अन्वेषणमें विज्ञान-वेत्ता लगे हुए हैं ताकि अच्छे-अच्छे संतोंके प्रवचन इकट्ठे किये जा सकें।

ऐसी स्थितिमें यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हमको कितना एवं कैसा बोलना चाहिये। हमारा सनातनधर्म तो प्रिय-सत्य बोलनेको ही महत्त्व देता है।

कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

'सत्य बोलो, पर अप्रिय सत्य मत बोलो। प्रिय बोलो, पर झूठ नहीं। यही सनातन धर्म है।' अतः हमें प्रत्येक शब्द खूब समझकर—तौलकर निकालना चाहिये। 'सत्यपूतं वदेद् वाक्यम्' यह हम जितना शीघ्र समझ लें और इसपर जितना अधिक आचरण करें उतना ही यह अधिक तथा शीघ्र लाभदायक एवं शान्तिदायक होगा। हम प्रतिदिन कितनी अनर्गल व्यर्थकी बातें करते हैं, उसपर ध्यान देनेसे ही पता चल सकता है। वाणीपर नियन्त्रण रखनेसे वाणीकी ओजस्विता और हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ती है। महात्मा गांधीके अपने तीन बंदर-गुरुओंमें एकके मुँहपर हाथ रक्खा है, जो वाणीपर नियन्त्रण रखनेकी ओर इङ्गित करता है। गांधीजी इसी प्रकारका आचरण करते थे; जिसका फल यह हुआ कि सारा विश्व उनके एक-एक शब्दको ध्यान-पूर्वक सुनता तथा आदरकी दृष्टिसे देखता था। आज-कलके राजनीतिज्ञोंके लिये तो परमावश्यक हो गया है कि पूर्ण सोच-विचारके साथ एक-एक शब्दका उच्चारण करें, अन्यथा अर्थका अनर्थ हो सकता है।

मुझे ऐसे संतोंके दर्शन एवं उनके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जो वर्षोंतक भगवन्नामका ही उच्चारण करते रहे हैं और जो कुछ भी वार्त्तालाप करते हैं, वह सब लिखित रूपमें। इसका तात्पर्य यही है कि वाणीपर नियन्त्रण करनेका यह एक बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। इसी प्रकार मौन रहना लाभदायक है। सूर्य और चन्द्रमा मौन रहकर ही अपने सारे कार्योंका सम्पादन करते हैं। मौन रहनेसे शक्ति पूरी संचित रहती है।

कभी-कभी हास्य-विनोदमें भी मुँहसे निकले हुए व्यंग शब्द अनर्थ कर डालते हैं। मेरे विचारसे महाभारतयुद्धका एक कारण यह भी था कि जब राजसूय-यज्ञमें दुर्योधनने मयासुर-रचित सभामें प्रवेश किया, तब उन्हें स्थलमें जलका भ्रम हुआ। इसपर भीमसेनने व्यंग कसा कि 'अन्धोंकी सन्तान भी अन्धी ही होती है!'

यह व्यंगोक्ति दुर्योधनको चुभ गयी और उसका कुफल हुआ महाभारत! अतः हास्य-विनोदमें भी काफी सावधानीकी आवश्यकता है। हमलोग तो गृहस्थीमें फँसे हुए हैं। आज घर-घरमें जो वैमनस्य है, उसका एक प्रधान कारण अच्छा न बोलना ही है। बच्चोंके लालन-पालनमें भी इसपर विशेष ध्यान देनेसे वे अच्छा बोलना सीखते हैं और अच्छे बनकर चमकते हैं।

कवियोंकी कृतियाँ क्या हैं? शब्दोंका गुन्थन ही तो! वही शब्द साधारण; पर कवि उनको पंक्तियोंमें ऐसे ढंगसे रख देता है कि वे मृत-आत्मामें भी प्राणका

संचार कर देते हैं। महर्षि व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदासजी, सूरदासजी, महाकवि कालिदास आदिने अपनी-अपनी कृतियोंके द्वारा संसारमें आध्यात्मिक दिव्य जीवनका संचार किया। किन्हींमें पदलालित्य, किन्हींमें अर्थगौरव और किन्हींमें भावगरिमा—ये सब शब्दोंका कौतुक है। शब्द ऐसे हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक होते हैं कि उनका प्रभाव वर्षोंतक नहीं भुलाया जा सकता। जिन्हें हमलोग 'मन्त्र' कहते हैं वे भी तो शब्दोंकी ही रचना हैं, जिनमें प्रभाव उत्पन्न करनेकी अमित शक्ति है।

किसी मधुर पदका गायन क्या है? मधुर स्वर-तन्त्रियोंका ही तो कम्पन है। गायनकी जो प्रशंसा है, वह सब शब्दोंके उच्चारणकी ही प्रशंसा है। कितना मोहक, कितना मार्मिक, कितना शान्तिदायक—सारे श्रोता तल्लीन हो जाते हैं। कौआ और कोयलके स्वरमें जो भेद है, वही कर्कश बोलचाल और मधुर संगीतमें है। स्वयं भगवान् ही अपने मुखारविन्दसे कहते हैं—

'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'

यह है मधुर गायनका प्रभाव। सब रस इससे निकल पड़ते हैं।

नीच स्वार्थ

बच्चा पैदा होता है, माँ-बाप समझते हैं—हमारा कर्तव्य है इसे योग्य बना पैरोंपर खड़ा कर दें। लड़के बड़े होते हैं, विचारते हैं—कितने परिश्रम और आपत्तियोंका सामना करके इन्होंने हमको पाला-पोसा। हम इनका क्या प्रतिदान दे सकते हैं; क्योंकि प्रतिदान तो बराबर बदला चुकाया जाय तब होगा। ये तो श्रद्धाके पुष्पमात्र हैं।

लेकिन देखा कुछ ऐसा जाता है कि माँ-बापकी स्नेहमयी और अद्भुत सेवामें भी एक छिपी हुई आशा प्रतिदानकी चाहका रूप धारण किये होती है, जो उनकी विशुद्ध कर्तव्यपरायणतारूपी कुन्दनमें टाँकेकी तरह है। वह आशा यही कि 'एक दिन यह हमारा सहारा होगा।' और बच्चे माँ-बापकी सेवा या उनका भरण-पोषण करते हैं तो समझते हैं कि 'हम इनपर बड़ा उपकार कर रहे हैं।' बल्कि कोई-कोई तो अपमान भी कर देते हैं—जैसे 'मैं दे रहा हूँ, इससे पता नहीं चला, मैं बंद कर दूँगा तो पता चल जायगा।' या वे लोग जब कोई खाने-पीनेकी इच्छित वस्तुके लिये कहते हैं तो उनकी अवज्ञा कर देते हैं। किंतु वे यह नहीं समझते कि कभी हम केवल इन्हींपर आश्रित थे। अपना मल-मूत्र साफ करना भी हमारे वशकी बात नहीं थी, हमको पढ़ाने-लिखानेमें भी तथा बीमारीके समय इलाज और सेवा करनेमें इनको कितनी कठिनाई हुई होगी और कितने पैसे लगे होंगे। उनके मनमें यह विचार नहीं होता कि हमसे तो यह प्रतिदान ही नहीं होता, फिर हम उपकार तो किसीका क्या करेंगे?

मैं नहीं समझ पा रही कि हम कर्तव्यक्षेत्रमें हैं या व्यवहार अथवा व्यापार-क्षेत्रमें हैं। सच्ची बात तो यह है कि हम व्यापार भी नहीं करते, क्योंकि सच्चे व्यापारमें मूल्य लेकर पूरी चीज देनी पड़ती है। हम तो नीच स्वार्थी हैं, जो करते थोड़ा हैं और बदला चाहते हैं बहुत अधिक, व्याज अलग।

मैं नहीं समझ पा रही कि हमारे 'जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है?

कर्तव्य, व्यवहार या व्यापार-परायणता।

—'दुर्गेश'

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

[गताङ्क भाग ३८ पृष्ठ १३८४ से आगे]

(१)

तुलसीकी काव्यकलाका आनन्द लेनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम ऐसे स्थलोंको खोजें जो विशेष प्रकारसे भावप्रधान हों, जैसे जनक-फुलवारी-प्रसङ्ग अथवा राज-रस-भङ्ग-प्रसङ्ग। उनकी कला तो साधारण स्थलोंपर भी दिखायी देती है। उदाहरणार्थ—यह पंक्ति लीजिये—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।

कैसी सीधी-सादी बात है! माता कौसल्याकी शिशु-लीला-आनन्दकी इच्छाकी पूर्तिके लिये श्रीरघुनाथजी बालक बनकर रोने लगे। यह अर्थ तो वैसा है, जैसा हम अपनी आँखोंसे इन शब्दोंको देखकर करते हैं। अब इनका ठीक अर्थ समझनेका प्रयास किया जाय कविवर तुलसीकी दृष्टिसे इन शब्दोंको देखकर।

पहले तो 'सुजाना' शब्दपर ध्यान दिया जाय। 'सुजान' का अर्थ हिंदीकोषमें इस प्रकार दिया है—समझदार, चतुर, सयाना, निपुण, कुशल, प्रवीण, विज्ञ, पण्डित, सज्जन। मानसमें 'सुजान'का इन्हीं कई अर्थोंमें कविवरने प्रयोग किया है। परंतु श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें जब कविवर तुलसीदासजी 'सुजान'का प्रयोग करते हैं, तब उसका विशेष अर्थ होता है। अयोध्याकाण्डकी एक अर्द्धाली है—

देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥

यहाँ कविवरका अभिप्राय यह है कि अपने जनके हृदयकी बात जाननेवाले और इसे जानकर उसके अनुसार अपने जनको संतुष्ट करनेवाले दयालु श्रीरघुनाथजी। 'जानि जन जी की'—अपने जनके आन्तरिक भाव सहृदय समझकर उस भावका आदर करनेवाले सुजान—इस अर्थमें श्रीरघुनाथजीके लिये 'सुजान' शब्द मानसमें प्रयोग होता है। जैसे—

करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।

अर्थात् तुम्हारे भीतर जो शील है और जो स्नेह है, जिसे तुमने छिपा रक्खा है उसको भलीभाँति समझनेवाले 'सुजान' करुणानिधान प्रभु!!

सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दिए।

जो देवता मनुष्य-देह धारण करके जिसमें वे किसीकी पहचानमें न आयें, राम-जानकी-विवाह-रसकी लालसासे स्वर्ग छोड़कर जनकपुरमें आये हुए थे, उनके आन्तरिक भावको, उनके अप्रकट प्रेमको भलीभाँति समझनेवाले राम सुजानने उन देवताओंको अन्य रूपमें भी पहचानकर समुचित आदर दिया।

बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ बिदित गति सब की अहै।

तुम्हें 'सब'की गति विदित है; क्योंकि हे रघुनाथजी! तुम सुजान हो। प्रत्येक जनके जीकी—उसके भीतरकी सब बात जानते हो!!

जानकीजीने प्रभुसे कहा—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।

और जब 'सुजान'सें काम न चला तो उन्होंने श्रीरघुनाथजीको 'सुजान सिरोमनि' कहा—

अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥

'सुजान' इसलिये बार-बार कहा; क्योंकि जानकीजीके शब्दोंमें श्रीरघुनाथजी 'उर अंतरजामी' हैं—

बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥

अयोध्याकाण्डमें—

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥

अर्थात् लोग चोट खाये हुए थे, दुखी थे, आर्त्त थे, सब लोग आर्त्त थे, एक-एक बहुत दुखी था। यह सब श्रीरघुनाथजीने जान लिया; क्योंकि वे 'सुजान' थे।

'करुनाकर सुजान भगवाना'

'सुजान' होनेके कारण वे प्रत्येक जनके जीकी भीतरी बातको जानते थे।

'सुजान' का यह विशेष अर्थ केवल श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें मानसमें पाया जाता है।

तो जब कविवर तुलसीदासजी कहते हैं—

'सुनि बचन सुजाना'

यहाँ कौन-सी ऐसी बात छिपी हुई है जिसको श्रीरघुनाथजी समझ गये—और कोई नहीं समझ सकता था—और जिसके लिये उन्हें 'सुजाना' कहा गया?

बात बहुत पुरानी थी। एक बार एक दम्पतिने—मनु-शतरूपाने—अपार तप किया था।

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।

माता कौसल्याको भी यह याद नहीं रहा कि वह एक बार शतरूपा थीं, जिन्होंने ऐसा घोर तप किया था कि जिसमें—

'संवत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।'

उनके हृदयमें तो 'सिसु-लीला' के अनुभवकी लालसा थी, क्योंकि उनका हृदय कहता था—

'यह सुख परम अनूपा।'

लेकिन उनका हृदय ऐसा क्यों कहता था इसका ठीक उत्तर वे स्वयं नहीं दे सकती थीं। यह तो केवल 'सुजाना' श्रीरघुनाथजी ही जानते थे।

'सुनि बचन सुजाना'

में कविवरने 'सुजाना' शब्दका प्रयोग किया तो उनके कहनेका अर्थ यह है—वे करुणानिधान जिन्होंने शतरूपाके तपका मूल्य समझा और फलस्वरूप साकेतधामसे साकेतपुरीमें आना स्वीकार किया, वे श्रीरघुनाथजी कौसल्याके हृदयमें छिपी 'सिसु-लीला'-अनुभवकी तीव्र इच्छाको समझ गये; क्योंकि वे 'सुजाना' थे। माताने तो यही कहा 'कीजै सिसुलीला' परंतु इस वचनके पीछे कितने पुराने संस्कार, कितने पुराने संकल्प, कितनी लंबी और अपार तपस्या की कहानी छिपी थी—यह सिवा 'सुजान' प्रभुके और कोई नहीं समझ सका, न समझ सकता था। इसलिये—

'सुनि बचन सुजाना'

अब यहाँ एक छोटी-सी बात और है जो ध्यान देने योग्य है। 'सुनि बचन सुजाना' के बाद है 'रोदन ठाना'। यहाँ विचारणीय यह है कि 'सुनि बचन सुजाना' और 'रोदन ठाना'के बीचमें कोई शब्द नहीं है। 'सुनि बचन सुजाना' के तुरंत बाद ही कविवर कहते हैं कि सुजानाने रोदन ठाना और यह इसलिये कि कविवरका कहना है कि माताके वचन सुनते ही—अविलम्ब—करुणानिधान प्रभु बच्चा बनकर रोने लगे; क्योंकि माताकी आज्ञाके पालनमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। और उनके लिये तो थोड़ा भी विलम्ब अक्षम्य होता जो 'सुजाना' होकर सिसु-लीलाके 'सुख परम अनूपा' की कौसल्याके हृदयमें तीव्र लालसाकी तपस्या-कहानीको भलीभाँति जानते हुए भी विलम्ब करते।

(२)

कविवर तुलसीदासजीके छोटे-छोटे शब्दोंमें भी क्या कमाल भरा है। वे यह नहीं कहते हैं कि शिशु बनकर प्रभु—'लागे रोदन करन' न यह लिखा है कि 'बाल रूप धरि रोवन लागे।' आखिर मतलब तो रोनेसे ही है न ? फिर—'रोदन करन' या 'रोवन लागे' या ऐसे ही अन्य किन्हीं शब्दोंसे कविवरने काम क्यों नहीं लिया ? भक्तवर कहते हैं—

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना'

अर्थात् उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं रोऊँगा, और खूब रोऊँगा—रोना ठान लिया—तो वे रोने लगे और रोते गये और रोते गये, और रोते ही गये और ऐसे रोये कि किसी प्रकारसे रोना कोई रोक ही नहीं सका। रोते गये, और खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोये और इतनी 'कीं-हाँ कीं-हाँ' मँचाई कि राजाका महल उनके रोनेसे भर गया। महाराजा दशरथकी सैकड़ों रानियाँ थीं। हरएक रानीका १५-२० कमरोंका भवन रहा होगा, जिसमें उसका स्नानागार, शृङ्गार-गृह, बैठनेका कमरा, खेलका कमरा, शयनगृह इत्यादि और रसोईघर तथा नौकर-नौकरानियोंके स्थान रहे होंगे। इस प्रकार सैकड़ों रानियोंवाले दशरथ महाराजाका कितना बड़ा महल रहा होगा ! मगर वाह रे प्रभु ! वाह रे कौतुकी कृपाला !! कैसी महान् चिल्ल-पों मचायी कि सारा महल रोनेकी अपूर्व ध्वनिसे गूँज उठा और—

'संभ्रम चलि आईं सब रानी।'

और महाराजा दशरथकी भी आँख खुल गयी, जहाँ वे अपने भवनमें दोपहरके समय विश्राम कर रहे थे।

'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना'

उन्होंने राम-जन्मका पहला समाचार अपने कानमें प्रभुका रोना पड़नेसे पाया और वे भी उठकर चले आये।

'रोदन ठाना।' प्रभुने ठान लिया कि बस अब रोया जाय तो यह ठानकर ऐसा रोये कि जैसा कोई बालक कभी भी नहीं रोया, न रो सका। महाराजा दशरथके महलमें उस समय एक ही बातका अस्तित्व था, उनके महलमें यदि कोई बात थी जिसकी उपस्थिति और सब बातोंके अस्तित्वपर छायी हुई थी तो बस एक ही बात थी और वह थी प्रभुके रोनेकी लीला ! प्रभुकी बातमें किसी प्रकारकी कसर नहीं रहती। जब विरहकी लीला करने लगे तब—

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

जब शोककी लीला करने लगे तब—

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजि[illegible] लोचन॥

यहाँतक कि—

'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए [illegible] निकर।'

तो जब प्रभुको रोनेकी ली[illegible] करनी पड़ी तो प्रभुने 'रोदन ठाना'

'ठाना' यहाँ प्रभुके निश्चयसूचक है। इसीलिये प्रभुने महान् रुदन किया, अनुपम रुदन किया, रोनेकी सीमा ही

नहीं रही। जोर-जोरसे रोये, तरह-तरहसे रोये, रोते ही रहे। अत्रिमुनिने प्रभुके लिये ठीक ही कहा है—

'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'

करुणानिधान श्रीरघुनाथजीकी हर एक बात अनन्त है! जैसी दृढ़तासे प्रभुने रुदन किया और जैसा सर्वाङ्गपूर्ण रुदन प्रभुने किया, इसके लिये 'ठाना' ही एक मात्र उपयुक्त शब्द है।

एक छोटा-सा प्रश्न यहाँ उठता है और वह यह कि जब नटवर करुणानिधान श्रीरघुनाथजीने इतनी हू-हा मचायी तो उससे क्या लोग ऊब नहीं गये? क्या लोगोंका उनका यह जी-जानसे ठानकर रोना बुरा नहीं लगा? क्या माता कौसल्याको भी यह विशाल चिल्ल-पौं कर्णकटु न लगी, जिनकी गोदीमें पड़े-पड़े श्रीरघुनाथजीने रोनेकी अति कर दी थी? इसका उत्तर यह है कि प्रभुका रोदन ऐसी हालतमें भी एकको भी बुरा न लगा; क्योंकि यह प्रभुकी लीला थी, इसमें माधुर्य था। वास्तवमें प्रभु रोये तो इतने जोरसे जैसे कोई बालक न कभी रोया, न रो सके—प्रभुकी हर एक बात 'अतिसय' ही जो ठहरी—और ऐसे रोये कि सैकड़ों रानियोंके कान खड़े हो गये। परंतु प्रभुकी माधुर्य-लीलाके प्रभावसे प्रत्येक व्यक्तिको ऐसा लगा कि कृपालु ऐसे मधुर-मधुर रो रहे हैं कि बस मेरे कानतक ही उनकी आवाज आ रही है। यह सत्य तो नहीं था, परंतु यह करुणानिधानकी विश्व-मोहिनी माया थी जो सदा प्रभुकी लीलाके साथ रहती है। इसीलिये कविवरने इसे आगे चलकर 'सिसु रुदन' और 'परम प्रिय बानी' कहा है।

(३)

और यहाँ कविवर तुलसीकी एक धृष्टता देखिये!! कहाँ सहस्रों वर्ष निराहार रहकर फिर एक मात्र वायुके आधारपर जीवित रहकर तपस्या करनेवाले मनु-शतरूपा और कहाँ तुलसीदासजी जो अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि—

'सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी।'

करुणानिधानने यदि मनु-शतरूपाकी अपार तपस्या देखकर उनका बालक होना स्वीकार किया था तो ठीक था। करुणामय प्रभु अन्तर्यामीने उन दोनोंकी तीव्र अभिलाषा पूर्ण करनेकी कृपा की तो यह न्यायसगंत था। तुलसीदासजीने तो प्रभुके लिये ऐसी घोर तपस्या की नहीं थी जैसी मनु-शतरूपाने की थी, न उन्होंने शिशुलीलाके आनन्द-भोगके लिये मनु-शतरूपाके समान कोई प्रभुसे वर माँगा था, जिसके कारण तुलसीदासजीकी इच्छापर भगवान् बालरूप धारण करनेकी कृपा करते। जिस अपने दासको स्मरणमात्रके उपहारस्वरूप प्रभुने करुणा करके भाँगसे तुलसी बनाकर आदरका पात्र कर दिया।

'जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास।'

उस दासका नटखट होना और अपने स्वामीसे छेड़-छाड़ करना स्वाभाविक था। तो यहाँ इस कविने कैसी धृष्टता की है।

जब—

भए प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

तो यहाँ पहले कविवरने गुणातीतको सगुण बना दिया। जो रूपसे परे है, उसे रूप देकर, अनामाका नामकरण करके उसे हमारे सामने खड़ा कर दिया। अनन्तको शरीरकी सीमामें बाँध दिया। जो अप्रकट था उसे प्रकट कर दिया। अदृश्यको नयनका विषय बना दिया और फिर एक क्षणमें देखते-देखते अमित शक्तिशाली विश्वसेवित सुर-भूपको रोता हुआ बालक बना दिया। कहाँ अनन्त, गुणातीत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, करुणानिधान और कहाँ महान् रुदन करता हुआ एक दुधमुँहा बालक!

हौंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास॥

इस सेवक तुलसीदासको छोड़कर और कौन अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रभुके साथ ऐसी धृष्टता कर सकता था? और तुलसीको छोड़कर अन्य किसकी धृष्टता ऐसी हो सकती थी कि उसे इस प्रकार—

'राम सहत उपहास।'

यह तुलसीकी अनुपम भक्ति थी, या उनकी अकथ काव्यकलाकी अलौकिक शक्ति कि जिसने एक क्षणमें अनन्त शक्तिशाली विश्ववन्दित सुरभूपको निस्सहाय रोता बालक बना दिया।

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।'

इसमें स्वामी और सेवककी, भगवान् और भक्तकी लीलाके दर्शन हमें मिलते हैं, अनन्त लीलाकारकी लीलाके दर्शन पूर्वार्द्धमें; करुणामय मायापतिके गुणगायक कविवर तुलसीकी काव्यलीलाके दर्शन उत्तरार्द्धमें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'रामरक्षा' आदिसे लाभके अनुभव

'कल्याण'के सन् १९६३ के अङ्क ५-६में पीपलके पत्तेके प्रयोगसे सर्प-विष उतरनेकी बात छपी थी। तदनुसार प्रयोग करनेसे एक आदमी दो बार बचे। एक महिलाके उसके प्रयोगसे दस ही मिनटमें विष उतर गया। उसी समयसे मुझे 'कल्याण'में प्रकाशित प्रयोगोंपर विश्वास हो गया। फिर मैंने 'रामरक्षास्तोत्र'का पाठ प्रारम्भ किया। अब मैं किसी भी बीमारीमें उसका प्रयोग करता हूँ तो रोगी भगवान्की कृपासे अच्छा हो जाता है। इसके बाद 'कल्याण'में छपे अनुसार गङ्गाजलमें आँखवाली दवा बनायी। मेरी माँको आँखसे ठीक नहीं दीखता था, सबसे पहले उसीपर प्रयोग किया और उन्हें ठीक दीखने लगा। इसके पश्चात् एक पुरुषपर उसका प्रयोग किया, जिसको बिल्कुल नहीं दीखता था। दवाके प्रयोगसे उसे आधा दिखायी देने लगा। अभी दवाका सेवन चालू है। उसके बाद 'कल्याण'में छपे 'बजरंगबाण'को सिद्ध किया। अब तो मैं 'रामरक्षास्तोत्र' और 'बजरंगबाण' दोनोंका खूब प्रयोग करता हूँ। आजकल रोज दोनों वक्त चार-पाँच जगह जाना पड़ता है, लोग बुलाकर ले जाते हैं और पाठ करते ही भगवत्कृपासे रोगी आराम हो जाता है। × × × ×

—ठाकुर बृजलालसिंह, रायबुम

(२)

चोरीका भेद खुल गया

जब थी तब खूब ही सुख-समृद्धि थी कालू खुमाणके घर। वह था काठी राजपूत; पर हृदय समुद्र-सा विशाल था। समयका फेर, बेचारा कालू पैसे-टकेसे खाली हो गया। मित्रोंसे विमुख हो गया।

लड़केकी सगाई हो गयी थी। कन्यापक्षवाले विवाहके लिये बड़ी उतावली मचा रहे थे; पर बेचारा कालू क्या करता? विवाहके लिये कुछ पैसे तो चाहिये ही।

सुदामा-पत्नीकी तरह एक दिन कालूकी धर्मपत्नीने कहा—'यों बैठे रहनेसे कैसे चलेगा? लड़कीवाले घर उठाये ले रहे हैं। तुम कहते थे न कि भूवाभाई तुम्हारे मित्र हैं, जाओ तो सही उनके पास। श्रीकृष्णकी तरह वे कुछ कर देंगे तो अपना काम निकल जायगा। फिर धरतीमाता खेतीमें अच्छा दिन दिखायेगी, तब देना-लेना चुकता कर दिया जायगा।'

अन्तमें सकुचाते-लजाते कालूने अपनी बूढ़ी घोड़ी तैयार की। फटा-टूटा जीन रक्खा और भूवाभाईकी आशा करके घोड़ीपर एड़ी लगायी।

कालू भूवाके घर पहुँचा। कालूका हालहवाल भूवाके स्त्रीने देखा। उसने कालूका स्वागत तो किया, पर सच्चे मनसे नहीं।

कालूने कहा—हमारी स्थिति बदल गयी है, लक्ष्मीजी रूठ गयी हैं। लड़केका विवाह करना है। लड़कीवाले तकाजा कर रहे हैं; परंतु पैसोंके बिना विवाह कैसे हो? तुम्हारी देवरानीने कहा—'भूवाभाईसे मिलो तो सही, उनमें सहायता करनेकी शक्ति है और वे तुम्हारे मित्र हैं। इसीलिये मैं आया हूँ।'

भूवाकी पत्नीने कहा—'तुम्हारे भाई तो व्यापारमें फँसे हैं, उसमें बड़ी पूँजी रुकी है। परंतु तुम उनके आनेतक रुक जाओ।'

मन-ही-मन कालू वहाँ ठहर गया।

नाश्तापानीसे निपट कर कालू हुक्का पी रहा था। भूवाकी पत्नीने अपने आदमी वीरावालंदको बुलाकर आदेश दिया—'देख वीरा, मेरे बिछौनेपर जो गद्दा है वह कालूभाईके बिछौनेपर बिछा देना। उसके बाद तुझे घर जाना हो तो जाना।'

वीरा वालंदने गद्दा उठाया, बिछानेके समय उसे झड़काया। अंदर कुछ चमक रहा था। देखा तो सोनेमें हीरा [illegible] हुआ कानमें पहननेका झूमका था।

भूवाकी पत्नीने रातको सोते समय [illegible]का उतारकर रक्खा था। वह गद्देमें ही रह गया था। झूमका देखकर वीरा विचारमें पड़ गया। उसका मन [illegible] वशमें रहता। जल्दी-जल्दी उसने झूमकेको जेबमें डाला और बिछौनेका काम तुरंत ही सलटाकर कालूकी बिछौनेपर सुला दिया। वह अपने घर चला गया। वह खुशी-खुशी अपनी पत्नीसे मिला

और जेबसे झुमका निकालकर पत्नीको देते हुए बोला—'ले, देख ! अपनेपर अब भगवान्की कृपा हो गयी ।'

परंतु घरवाली यों ही उसकी बात मान लेनेवाली नहीं थी । उसने कहा—'कहाँसे चोरी करके लाये हो ? यह तो माताजीका झुमका है । ऐसा चोरीका माल अपने नहीं पच सकता ।'

वीराने इस तरफ ध्यान न देकर झुमकेको एक हँडियामें रक्खा और उसे घरके एक कोनेमें गाड़ दिया ।

× × ×

मुर्गेकी आवाज सुनकर कालू जग गया । वस्तुतः विचारोंमें उलझे रहनेके कारण उसको रातभर नींद आयी ही नहीं थी । उसने तुरंत ही बूढ़ी घोड़ीपर जीन रक्खा और भूवाकी पत्नीको बिना ही कुछ कहे अपने घर लौट गया ।

गाँवके बनियेके यहाँ एक हजार रुपयेमें जमीन बंधक रखकर उन रुपयोंसे लड़केका विवाह घरकी रीतिरिवाजके अनुसार धूमधामके साथ कर दिया । अब उसने शान्तिकी साँस ली ।

इधर भूवाकी पत्नीने नहा-धोकर माथेमें बिंदी लगानेके लिये दर्पण सामने रक्खा । देखा तो झुमका नहीं था । उसने तुरंत ही वीराको पुकारा और कहा—'अरे वीरा ! देख तो बिछौनेमें तो मेरा झुमका नहीं रह गया ! मेरा झुमका कहाँ चला गया ?'

वीराने गद्दा, रजाई, बिछौना आदि सब देख लिया, पर यह तो झुमका खोजनेका उसका नाटक मात्र था । अन्तमें वीराने कहा 'माँ, बुरा न मानो तो एक बात कहूँ । मुझे तो कालूपर वहम होता है । वे बिना ही कुछ कहे चले गये । बेचारे गरीब आदमी हैं । लड़केका विवाह करनेके लिये वे झुमका ले गये होंगे । मुझे तो ऐसा ही लगता है ।'

वीराके कथनानुसार भूवाकी पत्नीका भी कालूपर संदेह दृढ़ हो गया ।

एक सप्ताहके बाद भूवा घर आया । भूवाकी पत्नीने पैसेकी मददके लिये कालूके आने, अचानक चले जाने और झुमकेके चुराये जानेकी बात कही । कालूके लड़केके विवाहकी बात सुनाकर वीराने कहा—'मुझे तो लगता है कि उन्होंने झुमका बेचकर उन्हीं रुपयोंसे लड़केका विवाह किया होगा ।'

भूवा विचारमें पड़ गया—अपना मित्र सहायताके लिये आया और उसकी सहायताके लिये तो कुछ भी किया नहीं जा सका, उल्टे उसपर झुमकेकी चोरीका इलजाम लगाना पड़ रहा है ! अन्तमें भूवाने एक चिट्ठी लिखी—

'कालूभाई ! तुम बहुत दिनोंके बाद यहाँ आये और मैं तुमसे मिल नहीं पाया, इसके लिये मुझे दुःख है । तुम यहाँसे जो झुमका ले गये थे, उसका काम हो गया हो तो वापस भेज देना । सब कुशल है । काम-काज लिखना ।'

कालूने चिट्ठी पढ़ी और वह विचारमें पड़ गया । 'कैसा झुमका और कैसी बात ! इसमें कोई रहस्य होना चाहिये । जो कुछ भी हो, भगवान् सबके समान मालिक हैं । भाईने कैसे अच्छे ढंगसे विचारपूर्वक चिट्ठी लिखी है, इससे मेरे प्रति उनके मनमें मानकी भावना दीख रही है ।'

दिमागको ठंढा करके कालूने विचारपूर्वक अपने खानदानी स्वभावसे उत्तर लिखा—'भाई भूवा भाई, आभार ! आजके दसवें दिन मैं स्वयं झुमका लेकर पहुँचूँगा । निश्चिन्त रहना ।'

कालूने अपनी शेष जमीन बंधक रखकर एक हजार रुपये लिये और उनसे एक सुन्दर झुमका बनवाया । फिर सोचने लगा—'उस झुमकेकी, पता नहीं, कितनी कीमत रही होगी । कहीं ज्यादा कीमतका होगा तो इस घोड़ीको दे दूँगा । फिर सब ठीक हो जायगा । क्या सत्यकी जय नहीं होगी ?'

आज दसवाँ दिन था । भूवा अपनी देहलीपर बैठा कालूकी बाट देख रहा था । इतनेमें कालूको आते देखा । वह पास आ गया । भूवा सामने गया । 'राम राम' की । अपने गद्दे-तकियेपर कालूको बैठाया । फिर वीरा बालंदको बुलाकर कहा—'अरे वीरा ! यह घोड़ी थकी हुई है, इसे छायामें बाँधकर घास-पूला डाल दे ।'

'हाँ जी' कहता हुआ वीरा घासके बहाने अपने घर पहुँच गया और चुटकी बजाते हुए पत्नीसे बोला—'ले, तू कहती थी न कि यह चोरीका झुमका नहीं पचेगा, पर अब तो सचमुच ही पच रहा है । वह कालू नया झुमका लेकर देनेके लिये आ पहुँचा है । बोल, अब यह झुमका पचेगा या नहीं ?'

घास-पूला डालनेमें वीराको देर हो गयी थी, इसलिये भूवाको कुछ संदेह-सा हुआ । वह तुरंत उठकर चला घास लानेके लिये । घास वीरा बालंदके घरके पीछे भरा था । भूवा उस समय वहाँ पहुँचा, जब वीरा अपनी पत्नीसे उपर्युक्त बात कहने लगा था । वीराकी बात सुनकर भूवा चकित रह गया । वह बड़बड़ाया—'भगवान् ! आज तुमने मेरी और मेरे मित्रकी—दोनोंकी लाज रक्खी ।'

तुरंत ही वह बड़ी तेजीसे वीराके घरमें जा पहुँचा और वीराके गालपर एकके बाद एक—दो-तीन तमाचे जड़ दिये। वीरा घबरा गया। वह काँपने लगा।

भूवाने कहा—'हरामखोर! तुझे झूमका पचाना है! मैंने तुम दोनोंकी बातें सुन ली हैं। चोरी सिर चढ़कर बोलती है। ला, अभी दे वह झूमका, नहीं तो, अपनेको मरा ही समझना।'

वीराके होशहवास हवा हो गये। वह कोनेमें गया। उसने खोदकर हँडियाँ निकाली और उसमेंसे झूमका निकाल कर काँपते हाथों लाकर भूवाभाईको दे दिया। अब लंबी बात न चलाकर भूवाने झूमका जेबमें रक्खा और घर लौट आया।

तुरंत ही गाँवके पाँच बड़े-बूढ़ोंको बुलाया। आव-भगत की। फिर कहा—'कालूभाई! तुम झूमका लाये हो? बिना कहे ले गये थे न?'

कालूने कहा—'हाँ भाई! जल्दीमें मैं झूमका ले गया था। कहना रह गया। लो, यह तुम्हारा झूमका, भूलचूक माफ करना।' इतना कहकर अपने अँगरखेसे झूमका निकाल कर भूवाके हाथपर रख दिया।

वहाँ बैठे सभी कालूकी ओर एकटक देख रहे थे। भूवाभाई तो विचारमें ही पड़ गये। वे घरके अंदर गये। पत्नीसे दूसरा झूमका लेकर आये। अपने जेबमेंसे वीरा वालंदसे मिला हुआ झूमका निकाला और तीसरा कालूका लाया हुआ झूमका था। यों तीनों झूमके पंचोंके सामने रखकर भूवाभाईने पंचोंसे कहा—'इनमेंसे सच्ची जोड़के दो झूमके आप अलग कर दीजिये।'

कालूवाला नया झूमका जोड़में नहीं आया। शेष दोनों झूमके एक जोड़के हैं—पंचोंने अपना निश्चय सुना दिया।

भूवाभाईने कहा—'कालूभाई! हमारी ओरसे तुमको बड़ा दुःख पहुँचाया गया है। धन्य है तुम्हारी खानदानीको और तुम्हारी मानवताको। तुम्हारे-जैसा भाई-मित्र मिलना कठिन है।' 'अखण्ड आनन्द' —उमियाशंकर ठाकर

(३)

आदर्श ईमानदारी

कुछ पुरानी बात है श्रीरामदुलाल सरकारका बचपन निर्धनतामें बीता! बड़े होनेपर उन्होंने एक व्यापारीके यहाँ पाँच रुपये महीनेपर नौकरी कर ली। वे बड़ी मेहनत और ईमानदारीसे कार्य करते थे। इससे मालिक प्रसन्न था। धीरे-धीरे वह रामदुलालसे हजारों रुपयोंका लेन-देन कराने लगा। रामदुलालके हिसाबमें कभी एक पाईकी भी गड़बड़ न होने पाती थी।

एक दिन कलकत्तेमें कुछ दूकानें नीलाम होनेवाली थीं। मालिकने रामदुलाल सरकारको एक दूकान खरीदनेके लिये भेजा। उनको वहाँ पहुँचनेके पूर्व ही एक दूकान नीलाम हो गयी थी। अब दूसरी दूकान नीलाम होने लगी।

रामदुलालने उसकी कीमतका सही अनुमान लगा लिया था। बोली बोली जाने लगी। रामदुलाल भी रुपये बढ़ाने लगे। अन्तमें इनके नामसे वह दूकान १४०००) रुपयेमें दे दी गयी। रुपये ये साथ ले गये थे, तुरंत रुपये दे दिये। यह देखकर सब आश्चर्य करने लगे कि यह कैसा मूर्ख है। ४०००) रुपयेकी दूकानके १४०००) रुपये दे डाले; क्योंकि पहली दूकान कम रुपयोंमें ही नीलाम हुई थी और इस दूकानकी कीमत भी इतनी ही समझी जा रही थी। लोगोंकी इस बातचीतसे श्रीरामदुलालजी घबराये। वे चिन्ता करने लगे कि पता नहीं, इस कार्यसे उनपर मालिक कितने नाराज होंगे और उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा।

इतनेमें भगवान्‌की प्रेरणासे, एक बड़ा अंग्रेज व्यापारी वहाँ आया। बड़े अच्छे मौकेपर होनेके कारण उसे उस दूकानकी बड़ी आवश्यकता थी। उसने रामदुलालसे वह दूकान किसी भी कीमतपर उसे देनेके लिये कहा और बढ़ते-बढ़ते उसके एक लाख चौदह हजार रुपये तक लगा दिये।

अब रामदुलालने अधिक लोभमें न पड़कर उसे वह दूकान ११४०००) रुपयेमें बेच डाली और रुपये लेकर वे सीधे मालिकके पास पहुँचे। रामदुलाल चाहते तो एक लाख रुपये स्वयं ले सकते थे और चौदह हजार अपने स्वामीको दे सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया; वे बड़े ईमानदार, सत्यप्रिय, स्वामि-भक्त एवं बातके धनी थे। मालिकने किसीसे सुना था कि उनके मुनीम रामदुलालने चार हजारकी दूकानके चौदह हजार दे दिये हैं अतः वे क्रोधमें भरे बैठे थे। रामदुलालको देखते ही बोले—'रामदुलाल! तुम तो जान पड़ते हो मेरा दीवाला निकाल कर ही दम लोगे। चार हजारकी दूकानके तुमने चौदह हजार क्यों दिये?' रामदुलालने रुपये देते हुए धीरेसे कहा—'बाबूजी! ये लीजिये

आपके चौदह हजार रुपये और ये एक लाख रुपये मुनाफेके अलग लीजिये। मैं चौदह हजारकी दूकान ११४०००) रुपयेमें एक अंग्रेज व्यापारीको बेच आया हूँ। अब तो आप प्रसन्न हैं ?' रामदुलालने आदर्श ईमानदारीका उदाहरण उपस्थित किया, आदर्श स्वामि-भक्तका कर्तव्य निभाया। मालिक प्रसन्न होकर बोले—'भाई रामदुलाल ! तुम्हारी इस आदर्श ईमानदारी एवं स्वामि-भक्तिसे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। ये एक लाख रुपये तुमने ही कमाये हैं; अतएव इन्हें तुम ही ग्रहण करो। इनपर मेरा कोई अधिकार नहीं है।' बहुत ही आग्रह करके मालिकने रुपये दे दिये। तदनन्तर रामदुलालने अपना अलग कारोबार चलाया और थोड़े समयमें वे एक अच्छे व्यापारी बन गये। आधुनिक युगमें तो आदर्श ईमानदारीके ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं।

—प्रा० श्यामनमोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(४)

भगवान् भक्तके साथ रहते हैं

सन् १९५८ की बात है। नैनीतालमें औद्योगिक प्रदर्शनी लगी थी। जिसमें जिला-उद्योग अधिकारीकी आज्ञासे रामपुरकी औद्योगिक वस्तुओंको लेकर मैं भी उसमें गया था। उस समय मैं रामपुरमें मुख्य लिपिकके पदपर काम कर रहा था। वह प्रदर्शनी करीब आठ दिनोंसे अधिक रही। मैं भी वहीं रहा। एक दिन मैं वहाँकी सबसे ऊँची पर्वतीय चोटी—चाइनापीक देखने गया। रास्तेमें मैंने देखा कि सड़क घूमघाम कर गयी थी; पर कुछ पहाड़ी लोग पहाड़ियोंसे उतरकर नजदीक रास्ते (short cut) से निकल जाते थे। इस प्रकार वे कई फर्लांगोंकी दूरी बचा लेते थे। मेरे मनमें भी यही विचार हुआ कि लौटते समय मैं भी इसी प्रकार नजदीकके रास्ते (short cut) से पहाड़ी उतरकर अपने मार्गको सुगम बनाऊँगा। अतः जब मैं लौटा तो मैंने भी ऐसा करनेका प्रयत्न किया। कई स्थानोंपर सफलता भी मिली। एक बार मैं भूलसे एक खड्डमें पहुँच गया और जब कुछ और आगे बढ़ा तो मैंने अपनेको करीब ५०० फुटसे अधिक गहरे खड्डमें पाया; वहाँसे मुझे कोई रास्ता नहीं दिखायी दिया। मैं कुछ पीछेकी तरफ लौटा, किंतु यह समझ न सका कि उस गड्ढेमें किधरसे आया था। सूर्य भगवान् अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। अब मैंने समझ लिया कि यहाँसे निकलना असम्भव है; क्योंकि दूर-दूरतक सिवा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी वृक्षोंके और कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा था। एक नदीका सोता था, जिसमें बड़े-बड़े पत्थर थे। मैंने विचार किया कि इन पत्थरोंके नीचे आज रात गुजारी जाय, जिससे कोई जंगली जानवर मुझे देख न पाये। ऐसी जगहोंपर बाघ-बघेरोंका रहना स्वाभाविक होता है, जो छिपे मनुष्योंको भी गन्धसे मालूम कर लेते हैं। इधर रात हो रही थी; सिवा मरनेके और कोई चारा नहीं था। किंतु ऐसी स्थितिमें भी आदमीको कभी निराश नहीं होना चाहिये। मैं अपने-आपको भक्त तो नहीं कह सकता, परंतु इतना जरूर कहूँगा कि जब कभी मैंने भगवान्को याद किया, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान् सर्वदा मेरे पास हैं। अतः आज भी मैं उस चश्मेसे जरा आगे बढ़ा और दो मिनट तक शंकर भगवान्को याद किया। मैंने सहज ही आर्त भावसे कहा—'हे शंकर भगवान् ! आप सर्वव्यापी हैं; फिर भी यह कहा जाता है कि कैलासपर्वत आपका निवास-स्थान है। यह पर्वतीय प्रदेश भी उसी कैलासका एक भाग है। क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मैं इस खड्डमें हूँ और थोड़ी ही देर बाद वन्यपशुओंका आहार बननेवाला हूँ।' इसके बाद मैंने सामने नजर डाली तो क्या देखता हूँ कि एक लंबा-चौड़ा आदमी सिरपर घासका गट्ठड़ रक्खे चला आ रहा है। मैंने उससे कहा—'भाई ! मुझे मल्ली-ताल जाना है।' उसने कहा—'मेरे साथ चलो।' मैं दो ही मिनट उसके साथ चला और अपने-आपको मैंने बहुत ऊँचाईपर पाया। उसने कहा कि 'तुम इधरसे चले जाओ, मल्ली-ताल पहुँच जाओगे।' मैंने देखा कि मैं अकेला ही एक पहाड़ीपर हूँ।' मेरा वह मार्गदर्शक न जाने कहाँ ओझल हो गया। अब मुझको विश्वास हो गया कि वह मार्गदर्शक कोई पहाड़ी घसियारा नहीं था, बल्कि सहज कृपालु आशुतोष शंकर भगवान् ही स्वयं मुझे खड्डसे निकालने आये थे; क्योंकि उस खड्डमें कोई घसियारा घास लेने नहीं जा सकता।

मैंने अपना यह अनुभव पाठकोंके सामने केवल इसलिये रक्खा है जिससे वे विश्वास करें कि इस कलिकालमें भी, जिसमें चारों ओर पापोंके काले बादल छाये हुए हैं, भगवान् जरा-सा विश्वास रखकर पुकारते ही दीनोंकी—असहायोंकी रक्षा करते हैं।

—सरदारसिंह सिनहा

ग्राहकोंकी सेवामें सूचना

विशेषाङ्ककी वी० पी०के रुपये डाकखानेसे मिलनेमें प्रायः बहुत देर हो जाया करती है। अतः फरवरी-मार्चके अङ्क बाध्य होकर देरतक भेजने पड़ते हैं। ग्राहकगण धैर्य रखनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

श्रीमद्भागवत-महापुराण (सचित्र, सरल हिंदी-व्याख्यासहित)

केवल प्रथम खण्ड (स्कन्ध १ से ८ तक) तैयार हो गया है।

(दूसरा खण्ड छप रहा है, जिसके तैयार होनेमें अभी काफी देर है)

आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १०१६, चित्र बहुरंगे १०, मूल्य रु० ७.५०, डाकखर्च ३ रु०।

गीताप्रेससे सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत हिंदी-टीकासहित दो खण्डोंमें प्रकाशित है, जिसका मूल्य पंद्रह रुपये हैं। उसका केवल प्रथम खण्ड, जिसमें श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि, विनियोग, न्यास एवं ध्यान, श्रीमद्भागवत-सप्ताहकी आवश्यक विधि, सप्ताह-कथाके प्रारम्भमें संग्रहणीय सामग्रीकी सूची तथा श्रीमद्भागवत-माहात्म्यसहित स्कन्ध १ से ८ तक हैं, वह छपकर तैयार हो गया है। दूसरे खण्डके तैयार होनेमें अभी काफी देर है; इसलिये पढ़नेवालोंकी सुविधाके लिये केवल प्रथम खण्ड बेचना प्रारम्भ कर दिया गया है। जिन्हें आवश्यकता हो, वे मँगवानेकी कृपा करेंगे।

गीता दैनन्दिनी सन् १९६५ का तीसरा संस्करण भी समाप्त

गीता दैनन्दिनी सन् १९६५ के एक लाख साठ हजार प्रतियोंके तीन संस्करण छापे गये, जो पहलेके सभी संस्करणोंसे अधिक थे; परंतु फिर भी जनताकी माँग पूरी न हो सकी। राजस्थानके पंचायतराज्यने ५००० प्रतियोंकी माँग अब भेजी है। प्रयागसे भी एक सज्जनने ५००० प्रतियोंके लिये लिखा है तथा और भी हजारों प्रतियोंके आर्डर आये हैं; परंतु अब चौथा संस्करण छापनेमें सुविधा नहीं है। ग्राहकगण कृपापूर्वक क्षमा करेंगे तथा भविष्यमें पहलेसे आर्डर देनेकी कृपा करेंगे।

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु'के ग्राहक भी बनाये जाते हैं—

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय; पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली।

दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क।

पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।

कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—नं० २४/५५, बिरहाना रोड।

वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी; पता—५९/९, नीचीबाग।

हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार।

ऋषिकेश—गीताभवन; पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी—इन पाँच जगहोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी हैं।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि उन्हें कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है। अतः उनके यहाँसे लेनेपर आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भूल-सुधार

(१) 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' पृष्ठ २८० में श्रीप्यारेलालजीका 'अन्यायकी आँधीमें रामनामकी निष्कम्प दीपशिखा' शीर्षक लेख छपा है, उसमें श्रीप्यारेलालजीके नामके साथ भूलसे 'स्व०' छप गया है। 'स्व०'से 'स्वर्गीय' का संदेह होता है। अतः पता लगनेपर ग्राहकोंको भेजे जानेके बाद बचे हुए अङ्कोंमें 'स्व' काट दिया गया है। इस भूलके लिये हमें खेद है और हम श्रीप्यारेलालजीके स्वस्थ दीर्घजीवनकी कामना करते हुए उनसे क्षमा चाहते हैं। जिनके पास 'स्व०' बिना कटे अङ्क पहुँच गया है, वे महानुभाव 'स्व०' का अर्थ 'स्वर्गीय' न लगाकर 'स्वनामधन्य' लगावें। यह निवेदन है।

(२) पृष्ठ ३३५ में श्रीरंगअवधूत महाराजके लिये भी लेखकने उनके निर्वाण प्राप्त करनेकी बात लिखी है, जो गलत है। श्रीरंगअवधूत महाराज अभी विद्यमान हैं और वे नारेश्वर (गुजरात) में शुभ निवास करते हैं। इस भ्रमपूर्ण प्रकाशनके लिये भी हमें खेद है और हम क्षमा चाहते हैं।

—सम्पादक

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५ रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५ रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

कल्याणके पुराने ३८ विशेषाङ्कोंमेंसे अब केवल चार प्राप्य हैं

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मू० रु० ६.५०, डाकव्ययसहित।

२—मानवता-अङ्क

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे ३९, दोरंगा १, इकरंगे १०१, रेखाचित्र ३९, मू० रु० ७.५०, डाकव्ययसहित।

३—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८। मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.७५।

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (भगवान् श्रीकृष्णकी विभिन्न रोचक लीलाओंसे सम्बन्धित)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखा-चित्र १२०, मू० रु० ७.५०, सजि० रु० ८.७५।

इन विशेषाङ्कोंकी जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतियाँ शेष हैं, उनके समाप्त हो जानेपर ये भी उसी प्रकार दुर्लभ हो सकते हैं (जैसे शेष चौंतीस नहीं मिल रहे हैं और उनके लिये जनता बार-बार प्राप्त करनेका आग्रह कर रही है;) अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर मँगवा लेनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०२१, फरवरी १९६५

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० ७.५० विदेशमें रु० १०.०० (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ४५ पै० विदेशमें ५६ पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर